

अंक 5

ISSN 0975-5217

वर्ष 2012

# भैरवी

संगीत शोध पत्रिका



मिथिलांचल संगीत परिषद्  
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग  
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय  
कामेश्वरनगर, दरभंगा  
(बिहार)

# भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2012 अंक 5)



मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग  
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,  
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

# भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

वर्ष-2012, अंक : 5

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग  
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,

कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

दूरभाष - 06272 248340

मो. - 09430063265

ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य

इस अंक का मूल्य : 200/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 400/- रुपये / त्रैवार्षिक 1200/- रुपये

पंचवार्षिक 2000/- रुपये / आजीवन : 10000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 450/- रुपये / त्रैवार्षिक 1400/- रुपये

पंचवार्षिक 2300/- रुपये / आजीवन : 12000/- रुपये

(केवल मीनआर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)

(दरभंगा से बाहर के चेक में 35 रुपये अधिक जोड़ें)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।

प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।

समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

\* संगीत-नाटक अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा अनुदानित

मुद्रक

विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स

1/10753, गली नं. 3 सुभाष पार्क

नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032

## प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

पूर्व विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

## सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. रवि कुमार पंडोले

प्रवक्ता, संगीत विभाग, राजकीय एम.एल.बी.जी. पी.जी. कॉलेज, भोपाल

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

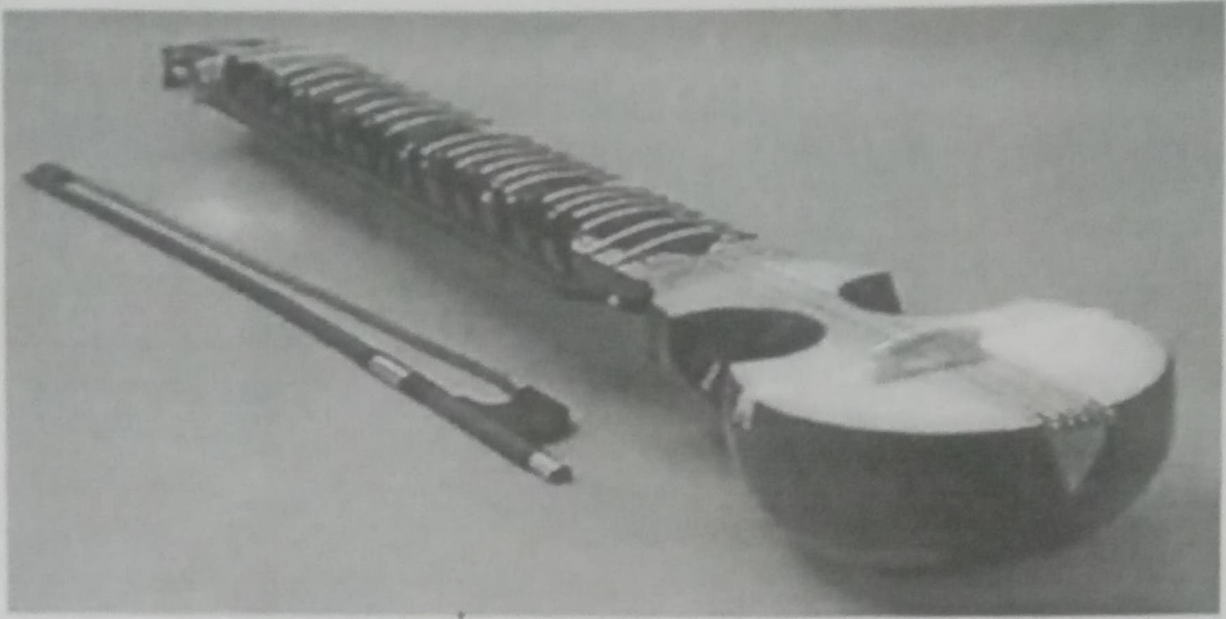
डॉ. वेद प्रकाश

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

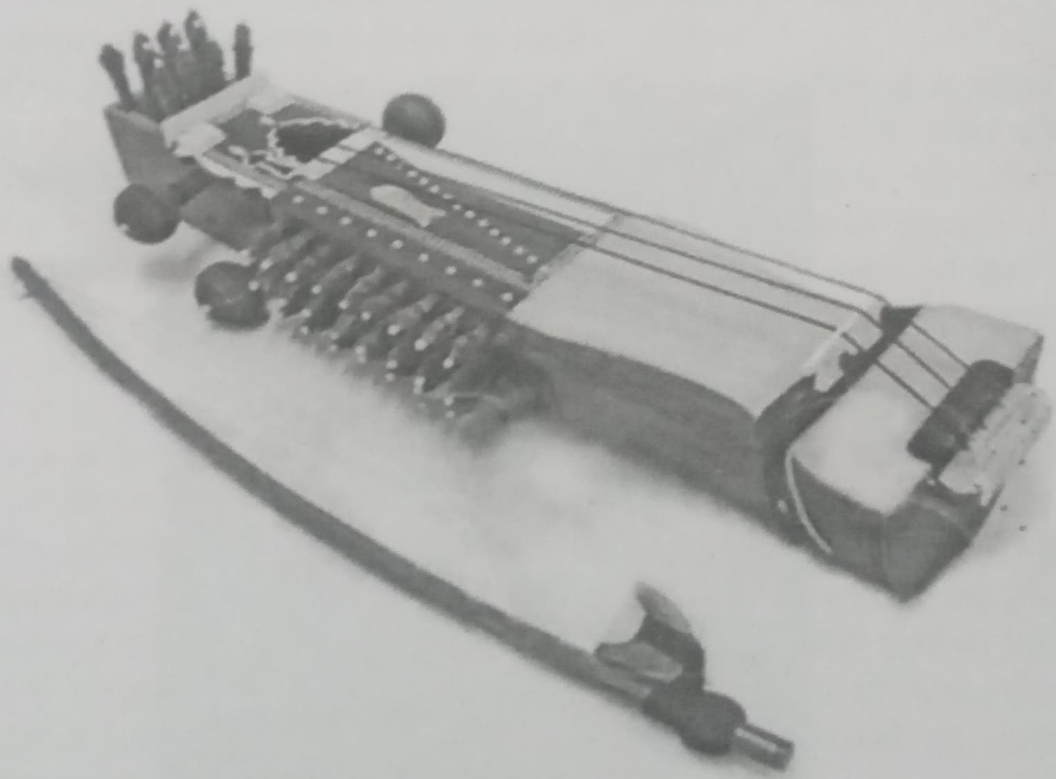
शिवनारायण महतो

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा





इसराज



सारंगी



राग भैरव - ध्यान चित्र



राग भैरव - ध्यान चित्र

## संपादक की कलम से ...



संगीत को अब तक उस कला के रूप में देखा जा रहा है, जिससे मनोरंजन होता है और मन को स्फूर्ति मिलती है पर अब विज्ञान धीरे-धीरे इस विश्वास पर उतर रहा है कि संगीत एक बड़ा महत्वपूर्ण शक्ति केन्द्र है। यदि उस शक्ति का यथेष्ट अनुसंधान एवं उपयोग किया जा सका तो अनेक आश्चर्यजनक रहस्य सामने आयेंगे और उनका मानव-जाति के कल्याण में भारी उपयोग किया जा सकेगा।

आज का संगीत एक प्रकार का सम्मोहन है जिससे मनुष्य असंयम की ओर दिग्भ्रान्त हो रहा है, परंतु प्राचीनकाल में हमारे पुरखों ने तत्वान्वेषण के आधार पर उसकी प्रबल शक्ति और सामर्थ्य को परखने के साथ यह भी जाना था कि संगीत शक्ति के दुरुपयोग से मानव-जाति का अहित भी हो सकता है, इसलिए उसे भी धर्म का एक अंग माना और ऐसे प्रतिबंध लगाये जिससे स्वर साधना का निष्कलंक रूप बना रहे और उससे मानव-जाति की भलाई होती रहे।

बीच में एक समय ऐसा आया जब शास्त्रीय संगीत में विदेशी जातियों का भी हस्तक्षेप हुआ और उन्होंने धीरे-धीरे उसे आज भी स्थिति में घसीटना प्रारंभ कर दिया। आज चारित्रिक दुर्बलता का एक कारण संगीत की सम्मोहन शक्ति भी है। मीठे स्वर से किसी भी भावुक व्यक्ति को प्रभावित कर उसे अधोगामी बनाने का कुचक्र इन दिनों बहुतायत से फैलता जा रहा है।

संगीत एक महान् साधना है और ब्रह्म प्राप्ति उसकी सिद्धि। नाद्विन्दूपनिषद् के 42 से 45 मंत्रों में बताया गया है कि भ्रमर जिस प्रकार फूलों का रस ग्रहण करता हुआ, फूलों की गंध की अपेक्षा नहीं करता, उसी तरह नाद में रुचि लेने वाला चित्त विषय-वासना में दुर्गन्ध की इच्छा नहीं करता। सर्प नाद को सुनकर मस्त हो जाता है, उसी प्रकार नाद में आसक्त हुआ चित्त सभी तरह की चपलतायें भूल जाता है। संसार की चपलताओं से वियुक्त मन की एकाग्रता बढ़ती है और विषय-वासनाओं से अरुचि होने लगती है। यदि मन को हिरन और तरंग की संज्ञा दें तो यह नाद उस हिरन को बांधने और पकड़ने वाला जाला और तरंग को साधने वाला तट ही माना जायेगा।

इसी उपनिषद् में ब्रह्म की अनुभूति-शक्तियों में नाद को भी शक्ति माना है और यह बताया है कि उसका अभ्यास करते हुए साधक एक ऐसे मधुर स्वर-संगीत में निबद्ध हो जाता है, जिससे सारा संसार ही उसे एक प्राण और परमात्मा का प्रतीक अनुभव होने लगता है।

वैज्ञानिक खोजों से यह पता चला है कि शून्य सृष्टि की निराकार स्थिति जहां है, वहां से एक प्रकार का शब्द उत्पन्न होता है, जैसे कि कांसे की थाली में चोट करें तो एक प्रकार का कंपन पैदा होता है, वह देर तक झनझनाती रहती है। ऐसी झंकृतियां प्रकृति के अदृश्य अंतराल से पानी में लहरों की भांति निरंतर उठती रहती है, इन झंकृतियों के आघात से इलेक्ट्रॉन परमाणु (विद्युत-घटकों) में गति उत्पन्न होती है और वे अपनी धुरी पर उसी प्रकार घूमने लगते हैं, जिस तरह सृष्टि के अन्यान्य बड़े-बड़े ग्रह, उपग्रह, पृथ्वी, नक्षत्र आदि अपनी धुरी पर घूमते हैं।

इलेक्ट्रॉन परमाणुओं में एक विशेष गति उत्पन्न होने से सृष्टि का काम उसी तरह चलने लगती है जिस तरह चाभी भर देने से घड़ी चलने लगती है। सृष्टि का संचालन इन अदृश्य कंपनों से ही चल रहा है, उनमें

इतनी मधुरता, दिव्यता शांति है, जिसे अमृत कहा जा सकता है। स्वर जितना सूक्ष्म और अंतराल से प्रस्तुत हुआ होगा, वह विश्व-नाद को उतना ही स्पर्श कर रहा होगा, अर्थात् उससे उसी अंश में मधुरता, आनन्द-सुख, दिव्यता, पुलक और शांति की अनुभूति हो रही होगी।

भौतिक सृष्टि का सारा खेल संगीत की शक्तिशाली झंकृतियों के आधार पर चल रहा है। चैतन्य सृष्टि की साकारता भी संगीत के आधार पर है। मस्तिष्क के विद्युत कोषों से प्रति सेकेंड लगभग 31 विचार-तरंगें निकलती हैं। सिनेमा के पर्दे पर एक सेकेंड में सोलह चित्र सामने से गुजर जाते हैं। इतनी तेजी से चित्र घूमने के कारण दृष्टिभ्रम होता है और ऐसा लगता है कि चित्र न होकर वह कोई जीवित प्राणी काम कर रहा है। उसी प्रकार विद्युत कोषों में 31 कंपन एक सेकेंड में निकलते हैं, तो उस मूल प्रेरक प्रक्रिया (नाद-ब्रह्म) का आभास नहीं हो पाता वरन् वह क्रियाशीलता एक निरंतर चलने वाले विचार के रूप में प्रकट हो जाती है। मनुष्य कुछ न कुछ सोचता ही रहता है, यह विचार तरंगें ईश्वरीय कंपन की मनोजन्य झंकृति ही होती हैं, वह जितनी सूक्ष्म होगी, विचार भी उतने ही स्थूल होंगे, किन्तु यदि मन को एकाग्र कर लिया जाए और अधिक सूक्ष्म कंपनों तक पहुंचने का प्रयास किया जाए तो बड़े निर्मल, दिव्य आनंद और शांति एवं संतोषदायक विचारों का सान्निध्य मिलने लगता है। संगीत साधना का यह एक बड़ा भारी आध्यात्मिक लाभ है।

'भैरवी' का यह अंक कुछ देर से प्रकाशित हो रहा है। देरी के लिए खेद व्यक्त करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं सूझता। जीवन की विकट परिस्थिति से जूझने और संभलने के प्रयास के अलावा किसी भी प्रकार के तर्क के संज्ञाल से अपने लेखकों, पाठकों, मित्रों और हितैषियों को अवगत कराना नहीं चाहती। भैरवी संगीत शोध पत्रिका का पंचम सोपान अब आपके हाथ में है। संपादन क्रम में अमित, धैर्य और दृढ़संकल्प का अवलंब लेकर इस शोध पत्रिका को शास्त्र सम्मत, तर्कसंगत और मर्यादापूर्ण बनाने की यथासाध्य चेष्टा की गई है। मुद्रण संबंधी कठिनाईयों के कारण कभी-कभी अनेक त्रुटियां रह जाती हैं, प्रबुद्ध पाठकों से इस हेतु क्षमा चाहती हूँ।

पुष्पम नारायण

—डॉ. पुष्पम नारायण

संपादक

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग  
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,

कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004

दूरभाष - 06272 248340

मो. - 09430063265

ईमेल - npushpamji@gmail.com

## अनुक्रम

संपादक की कलम से ...	7
1. नाट्यशास्त्र : एक परिचय	पं. ईश्वरचन्द 11
2. रवीन्द्र संगीत पर शास्त्रीय संगीत का प्रभाव : एक विवेचन	डॉ. पुष्पम नारायण 15
3. तबला वादन में अभिप्रेत वाणी : एक विवेचन	डॉ. नीलू शर्मा 18
4. भारतीय संगीत, संस्कृति एवं दर्शन का अविभाज्य संबंध	डॉ. अश्विनी कुमार सिंह 22
5. लुप्तप्राय उत्तर भारतीय प्राचीन ताल वाद्य	डॉ. गौरांग भावसार 28
6. भारतीय लोरियों में भाव-साम्य : एक अनुशीलन	डॉ. दीपेन्द्र सिंह जाडेजा 32
7. गीतम्	डॉ. के. शशि कुमार 36
8. तराना गायन शैली-वर्तमान परिप्रेक्ष्य में .	डॉ. नीलू गुप्ता 38
9. "फर्रुखाबाद घराने में प्रयुक्त गते एवं उनकी विशेषताएँ": एक अध्ययन	डॉ. रश्मि श्रीवास्तव 41
10. "शास्त्रीय संगीत-शिक्षा पद्धति का स्वरूप"	डॉ. अनिता रानी 48
11. धुमिल होती फाग की मस्ती, लुप्त हो रही फागुनी संस्कृति	डॉ. वेणु वनिता 51
12. वैश्वीकरण के युग में संगीत द्वारा मूल्य शिक्षा : एक दृष्टि	डॉ. प्रवीण सैनी 53
13. राष्ट्रीय एकता और शास्त्रीय संगीत	डॉ. माधुरी कुमारी सिंह 56
14. भक्ति पदों में संगीत तत्व	डॉ. लालति कुमारी 58
15. संगीत और गणित का संबंध	प्रोफेसर जय सेवक 61
16. संगीत की पीड़ा	डॉ. अभय दूबे 63
17. दक्षिण संगीत पद्धति के परिप्रेक्ष्य में स्वरलिपि अंकन	आरती मिश्रा 65
18. सामवेद व उसकी विशेषताएं	श्वेता केशरी 68
19. पूर्वाचल लोकनाट्य परंपरा में समाज	सुरेन्द्र कुमार 70
20. प्रसिद्ध पौराणिक एवं सांगीतिक ग्रन्थों में उल्लेखित तन्त्र वाद्य का वर्तमान स्वरूप	अंजली शर्मा 72
21. "रवीन्द्रनाथ का आध्यात्मिक चिन्तन"	आहना शर्मा 75
22. भारतीय संगीत के मार्ग तालों में एककल, द्विकल, चतुष्कल की अवधारणा	चन्दन विश्वकर्मा 78

23. बनारस की सुप्रसिद्ध गायिका श्रीमती गिरिजा देवी का संगीत में योगदान दिव्या मिश्रा 82
24. गायन, वादन तथा नृत्य की त्रिवेणी : काशी ज्ञानेन्द्र कुमार मिश्र 84
25. लोक संगीत परंपरा - कजरी इन्द्रदेव चौधरी 87
26. रवीन्द्रनाथ टैगोर की संगीत जगत को देन पल्लवी मिश्रा 89
27. रवीन्द्र संगीत में शास्त्रीय संगीत का स्थान सारिका पाण्डेय 92
28. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : सांगीतिक कृतित्व आनन्द कुमार विश्वकर्मा 96
29. धुपद अंकिता गोस्वामी 99
30. रवीन्द्रनाथ की संगीत जगत को देन आरती वाली 101
31. मानसिक शान्ति हेतु संगीत डॉ. रामेन्द्र कुमार मिश्र 104
32. बिहार में विवाह के अवसर पर गाए जाने वाले भोजपुरी लोकगीत ऋचा वर्मा 107
33. राग समय सिद्धान्त का पोषक : हवेली संगीत ऋचा शर्मा 109
34. बिहुला-विषहरि लोकगाथा : अंग जनपद के विशेष संदर्भ में नीलम कुमारी 111
35. राधावल्लभ भक्ति सम्प्रदाय में निर्वाहित गायन शैली : धमार पायल शर्मा एवं डॉ. सुधा सहगल 113
36. रवीन्द्रनाथ की संगीत जगत को देन रुचि श्रीवास्तव 118
37. अध्यात्मिक नादानुसंधान और संगीत नाद किशोर कुमार पोद्दार 121
38. राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह की चार (स्वाधीनतापूर्वक एवं स्वतंत्रेत्तर) समस्यामूलक नाट्य कृतियाँ : एक अनुशीलन चन्दना किरण 123
39. भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र में वर्णित नाटयांगों का अवलोकन अभय शंकर 126
40. मिथिला के भगैत-गहवर गीत परम्परा प्रेम कुमारी 129
41. The Contribution of Samveda to Indian Classical Music Dr. Supriya Shah 131
42. Adibhatla Narayana Dasu—a Multi-Faceted Genius Dr. Mandapaka Sarada 135
43. Violin "A world wide Acoustically Complex Instrument" Dr. Rakesh J. Mahisuri 139
44. Interpretation and implementation of 'Music' by Modern Indian English Poets. (with reference to Kamala Das) Smt. Jogalekar Bhakti Chandrakant 141
45. The Concept of Abhinaya (acting) In Natyasastra Amandeep Singh 144
46. The Tribal music of Newar Kumar N 'Sargam' 153
47. Classical Dance forms of Thailand Naphatsanan Jumaket 155
48. Transcription and Analysis of Vocals Parul Dixit 158

## नाट्यशास्त्र : एक परिचय

पं. ईश्वरचन्द्र

नाट्यशास्त्र प्राचीन भारतीय शास्त्र परंपरा का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसके रचयिता भरतमुनि कहे गए हैं। इसकी रचना कवियों की शिक्षा के लिए की गयी। नाटक या रंगमंच में संगीत, नृत्य, चित्र, वास्तु आदि विविध कलाओं तथा अनेक प्रकार के शिल्पों का भी विनियोग होता है। इसलिए नाट्यशास्त्र में इन कलाओं या शिल्पों के विषय में भी शिक्षा दी गयी है। इसके साथ ही, सौंदर्यशास्त्र, कविता तथा व्याकरण—ये विषय भी नाट्याभिनय तथा नाट्य लेखन से अनुपेक्षित हैं, अतः इन पर भरतकृत नाट्यशास्त्र में प्रसंगतः चर्चा हुई है। वस्तुतः भरत मुनि की मान्यता रही है कि संसार की कोई ऐसी कला, ज्ञान, शिल्प, विद्या योग या कर्म नहीं है, जो नाट्य में अंग न बन सके—

*न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।  
नासौ योगो न तत् कर्म नाट्येस्मिन् यन्न दृश्यते।'*

### नाट्यशास्त्र में अध्यायों में वर्णित सामग्रियों का संक्षिप्त विवरण :

**अध्याय एक :** इस अध्याय में नाट्यवेद की उत्पत्ति के संदर्भ में मुनियों का भरत से प्रश्न, भरत द्वारा इतिहास का वर्णन है। इसी अध्याय में रंगमंच अथवा रंगस्थल की व्यवस्था की प्रार्थना, विश्वकर्मा द्वारा नाट्यमंडप का निर्माण मंडप की रक्षा, नाट्यस्थिति और रंगपूजा का विवरण है।

इस अध्याय में प्रश्नकर्ता के रूप में आत्रेय आदि ऋषियों और उत्तरदाता के रूप में भरत मुनि का उल्लेख हुआ है।

**अध्याय दो :** द्वितीय अध्याय में नाट्यमंडप का लक्षण उसके तीन भेद, मनुष्योपयोगी नाट्यशाला का निर्माण, नाट्यशाला के उपयुक्त भूमि विभाजन, वास्तु प्रमाण, भीति निर्माण, चित्रकारी का विवरण इत्यादि विषयों के साथ विकृष्ट, चतुरस्र, त्र्यस्र के गृहलक्षणों का भी वर्णन दिया गया है।

**अध्याय तीन :** तृतीय अध्याय का नाम रंगदेवत पूजन है। इसमें नाट्य मंडप में संपादित की जाने वाली आवश्यक धार्मिक क्रियाओं का वर्णन है। देवता की पूजा-विधि, नाट्याचार्यों के द्वारा शुभ-अशुभ परीक्षार्थ कुंभ भेदन, रंगस्थल में प्रकाश हेतु दीप प्रज्वलन इत्यादि का विवरण है।

**अध्याय चार :** चतुर्थ अध्याय का नाम ताण्डव लक्षण है। इसके अंतर्गत भरत को अंगहारों को पढ़ाने के लिए शिवजी द्वारा तण्डुमुनि अर्थात् नंदिकेश्वर को आदेश, 32 अंगहारों का निर्देश, 108 करणों का लक्षण और कार्य स्पष्ट किये गए हैं। इसके अतिरिक्त नृत्य की आवश्यकता और प्रचार, लास्य और ताण्डव के प्रयोग का कारण, नर्तकी कर्म, गीत गाते समय वाद्य विधि, गीत और छंदकों के लक्षण इत्यादि वर्णित हैं। साथ ही, ताण्डव नृत्य की उत्पत्ति, उसके आधारभूत तत्व, करण, चारी, अंगहार, रेचक आदि का विस्तृत वर्णन है। नृत्यशास्त्र की दृष्टि से यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय है।

**अध्याय पंचम :** पंचम अध्याय में पूर्व रंग विधान बताया गया है अर्थात् पूर्व रंग के लक्षण, पूर्वरंग एवं उसके अंग, बहिर्गीत, गीतक, निर्गीत की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है। इसमें ध्रुवा विवरण, नाटक का प्रारंभ पूर्वरंग की आवश्यक क्रियाओं को

भी बताया गया है। ध्रुवों की वर्णना के कारण संगीत की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण अध्याय है।

**अध्याय षष्ठ :** षष्ठ अध्याय रसाध्याय है। इसमें रस निष्पत्ति तथा आठ नाट्य रसों का विस्तृत विवेचन है।

**अध्याय सात :** सातवां भाव व्यंजक अध्याय है। इसके अंतर्गत भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव इत्यादि का विशद विवरण और रस भाव की परस्पर व्यवस्था को स्पष्ट किया गया है। साथ ही इसमें आठ सात्विक भावों का भी वर्णन है।

**अध्याय आठ :** आठवें अध्याय का नाम 'उपांग-विधान' है। इसके अंतर्गत अभिनय शब्द की व्याख्या तथा उसके चार प्रकार बतलाने के उपरांत आंगिक अभिनय के अंतर्गत सिर तथा उससे संबंधित नेत्र, भ्रू, नासिका, कपोल एवं ग्रीवा आदि के अभिनय भेदों का वर्णन है, जो नृत्य की दृष्टि से परम उपादेय है। यह अध्याय आंगिक निरूपण पर केन्द्रित है। इसमें 13 प्रकार के शिरोभिनय, 41 प्रकार की दृष्टियां, 9 प्रकार के तारा कर्म, पुनः भ्रूकुटी, कूट, नासा, गंडक, चिबुक, मुखकर्म, ग्रीवाकर्म, आदि को स्पष्ट किया गया है।

**अध्याय नवम् :** नवम अध्याय में उपांगों का अभिनय बताया गया है। इसके अंतर्गत 22 असंयुक्त हस्त (किसी-किसी संस्करण में 24 असंयुक्त हस्त), 13 संयुक्त हस्त, हस्तों के चार प्रकार के करण, पार्श्वकर्म, पेटकर्म, कटिकर्म, पादकर्म और अंत में पाद, कंधा और उसके करणों का सामरस्य बताया गया है। साथ ही 30 नृत्त हस्तों के लक्षण-विनियोग बताए गए हैं।

**अध्याय दस :** दसवां शारीराभिनय अध्याय है। इसके अंतर्गत वक्षस्थल, पार्श्व, कटि, जंघा तथा पैरों के विभिन्न अभिनय भेदों का वर्णन है। साथ ही, चारी का विधान बतलाया गया है। 16 भौम चारी और 16 आकाशं चारियों के नाम सलक्षण बताये गए हैं। शौष्ठव लक्षण, चतुरस्य लक्षण, धनुष के प्रयोग में चार प्रकार के कारण, व्यायाम विधि, आहार विधि, व्यायाम के अयोग्य समय, व्यायाम के नियम आदि को स्पष्ट किया गया है।

**अध्याय ग्यारह :** किसी-किसी संस्करण में ग्यारहवें अध्याय के अंतर्गत चारी-विधान है। उपर्युक्त

चारियों का वर्णन इस अध्याय में है जबकि किसी-किसी संस्करण में इस अध्याय के अंतर्गत मंडलों के भेद बताये गए हैं।

**अध्याय बारह :** किसी-किसी संस्करण में बारहवां अध्याय का नाम ही मंडल-विधान है। कुछ संस्करण में इस अध्याय के अंतर्गत पात्रों के रंगमंच पर प्रवेश की विधि वर्णित है।

**अध्याय तेरह :** तेरहवां 'गति-प्रचार' नामक अध्याय है। इसमें विभिन्न प्रकार के पात्रों द्वारा प्रयुक्त गतियों का विस्तार से विवेचन किया गया है। जबकि कुछ संस्करणों में इस अध्याय के अंतर्गत बाह्य और अभ्यन्तर स्थानों का विभाग और नानाविधि प्रयोग अभिनय के भेद को बताया गया है।

**अध्याय चौदह :** चौदहवां प्रवृत्ति-धर्मी व्यंजक अध्याय है। इसमें रंगमंच पर गृह, उपवन आदि को संकेत रूप से दर्शाने वाली कक्ष्या विभाग पद्धति, वेश-भूषा, आधार आदि पर निर्भर दाक्षिणात्या आदि चार प्रकार की प्रवृत्तियां, सुकुमार तथा आविद्ध इन दो प्रकार के नाट्य प्रयोग तथा लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी रूढ़ियों का वर्णन है। कुछ संस्करण में वाचिक अभिनय और छंदों के विधान इस अध्याय के अंतर्गत संदर्भित है।

**अध्याय पंद्रह :** कुछ संस्करण में पंद्रहवें अध्याय का नाम छंद-विधान है। इसमें व्याकरण तथा भाषा शास्त्र संबंधी कतिपय विषयों का वर्णन कर एक से लेकर छब्बीस अक्षरों तक के छंदों का विवरण है। जबकि कुछ संस्करण में पंद्रहवें अध्याय के अंतर्गत उदाहरण सहित विभिन्न वृत्तों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

**अध्याय सोलह :** कुछ संस्करण में सोलहवें अध्याय के अंतर्गत छंदोविचित नामक अध्याय है। इसके अंतर्गत वाचिकाभिनय में उपयोगी वृत्तों का सोदाहरण निरूपण है। जबकि कुछ संस्करण में प्रायः 70 प्रकार के वृत्तों का विवरण बताया गया है। साथ ही 36 प्रकार के विभूषणों का लक्षण बताया गया है।

**अध्याय सतरह :** इस अध्याय के अंतर्गत कुछ संस्करणों में भाषा-लक्षण और उसके नियम एवं काकु स्वरूप का कथन है जबकि कुछ संस्करण में इस अध्याय का नाम वागभिनय है। इसमें 36 काव्य

लक्षणों, अलंकारों तथा गुण-दोष आदि का विवेचन है।

**अध्याय अठारह :** कुछ संस्करण में इस अध्याय के अंतर्गत दशरूपकों का लक्षण बताये गए हैं, तो कुछ संस्करण में इस अध्याय का नाम भाषा-विधान बतलाया गया है। इसमें नाटक में प्रयुक्त की जानेवाली चतुर्विध भाषाओं तथा सप्त विभाषाओं आदि का वर्णन है।

**अध्याय उन्नीस :** कुछ संस्करण में इस अध्याय का नाम काकु-स्वर-व्यंजक अध्याय नाम दिया गया है, जिसके अंतर्गत काकु, स्वर, नामाभिधान तथा पाठ्य के गुण-दोषादि का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। कुछ संस्करण में इस अध्याय के अंतर्गत इतिवृत्त के दो भेदों को स्पष्ट किया गया है।

**अध्याय बीस :** कुछ संस्करण में इस अध्याय में वृत्तियों के बारे में बताया गया है जिसमें भारती, कौशिकी, आरभाटी एवं सात्वती आदि वृत्तियों को स्पष्ट किया गया है। कुछ संस्करण में इसका नाम दशरूप विधान है। इसमें रूपक के नाटक आदि दस भेदों तथा लास्यांगों का निरूपण हुआ है।

**अध्याय इक्कीस :** कुछ संस्करण में इस अध्याय का नाम संध्यंग विकल्प है। इसमें कथानक की पांच संधियों तथा उसके विविध अंगों का विवेचन है। कुछ संस्करण में इक्कीसवीं अध्याय अहार्य अभिनय से संदर्भित है।

**अध्याय बाइसवां :** कुछ संस्करण में इस अध्याय का नाम वृत्ति-विकल्प है। इसमें भारती, सात्वती, आरभाटी एवं कौशिकी नामक चार नाट्य वृत्तियों का विवेचन है। जबकि कुछ संस्करण में सामान्य अध्ययन विषयक निरूपण है।

**अध्याय तेईस :** तेईसवें अध्याय का नाम कुछ संस्करण में अहार्याभिनय है। इसके अंतर्गत समग्र नेपथ्य-विधान वर्णित है। जबकि कुछ संस्करण में यह अध्याय वैश्याओं का निवास वैशिक इत्यादि पर आधारित है।

**अध्याय चौबीस :** कुछ संस्करण में चौबिसवां अध्याय सामान्याभिनय का नाम है। इसमें सात्विक अभिनय के अंतर्गत हाव, भाव, हेला आदि के अभिनय का विस्तृत वर्णन है। जबकि कुछ संस्करण में इस

अध्याय के अंतर्गत पुरुषों की तीन प्रकार की प्रकृति और स्त्रियों की तीन प्रकार की प्रकृति के निरूपण में केन्द्रित है।

**अध्याय पच्चीस :** कुछ संस्करण में पच्चीसवां अध्याय बाह्योपचार नामक है। इसके अंतर्गत वैश्याओं और वैशिक लोगों का विस्तृत वर्णन है। जबकि कुछ संस्करण में चित्राभिनय संबंधित है जिसमें प्रातःकाल का अभिनय इत्यादि है।

**अध्याय छब्बीसवां :** कुछ संस्करण में छब्बीसवें अध्याय का नाम चित्राभिनय है। आंगिक आदि अभिनयों के अंतर्गत जो बातें कहनी रह गयी वे सब अभिनय की विशिष्ट विधियां यहां वर्णित है। जबकि कुछ संस्करण में छब्बीसवें अध्याय में तीन प्रकार की भूमिका अनुरूपा, विरूपा, रूपानुरूपाणि, संदर्भित है।

**अध्याय सताईस :** कुछ संस्करण में इस अध्याय का नाम सिद्धि-व्यंजक अध्याय है। इसमें नाट्य-प्रदर्शन की सफलता, असफलता का आकलन या नाट्य मंडलियों का वर्णन है। कुछ संस्करण में यह अध्याय सिद्धियों के संदर्भ में है।

**अध्याय अठाईस :** कुछ संस्करण में अठाईसवां अध्याय स्वराध्याय हैं इसमें चतुर्विध वाद्यों का तथा स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, श्रुतियों एवं जातियों का विशद विवेचन है। जबकि कुछ संस्करण में वाद्य के 4 लक्षण, उसके प्रयोग की तीन शैली, गान्धर्व के लक्षण, गांधर्व की उत्पत्ति उसके तीन प्रकार स्वर, ताल, पद के विषय में विधि, स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना और जातियों के विवरण पर आधारित है।

**अध्याय उन्तीस :** कुछ संस्करण में उन्तीसवें अध्याय के अंतर्गत जातियों के रसाश्रित प्रयोग का विवरण है। वर्ण तथा अलंकारों का स्थायी आदि वर्णों पर आश्रित स्वरूप बतलाया गया है तथा वीणा के स्वरूप आदि पर चर्चा है। कुछ संस्करण में इस अध्याय के अंतर्गत षडजादि स्वर, जातियों का निरूपण, वाद्य प्रयोग में निहित स्वर, वर्ण, अलंकार लक्षण, गीत अलंकार की विधि, चार धातु, तीन वृत्ति, बांसुरी के तीन भेद, निर्गत विधान, वीणा के भेद आदि बताये गए हैं।

**अध्याय तीस :** कुछ संस्करण में तीसवें अध्याय के अंतर्गत बांसुरी के स्वरूप का विवेचन तथा

वादन-विधि बतलायी गयी है। कुछ संस्करण में तीसवां अध्याय सुधिर वाद्य उदभित है।

**अध्याय इकतीस :** कुछ संस्करण में इकतीसवें अध्याय के अंतर्गत ताल-लय सांगोपांग विवेचन करते हुए अवनद्ध वाद्यों का निरूपण किया गया है। इस अध्याय में ताल व्यंजन, कला, लय और उसके भेद, मार्ग ताल, ताल के प्रकार, हाथ की अंगुलियों के भेद, ताल भेदों का विस्तार, आसारिक और वर्धमानक विधि, गीत के लक्षण और अंग, गीत की वस्तु की कल्पना, ध्रुवों में ताल विधान, ताल के अवधारणा का प्रयोजन, लय के प्रकार पर आधारित है।

**अध्याय बत्तीस :** बत्तीसवां ध्रुवाध्याय है। इसमें पात्रों के प्रवेश, निर्गम आदि अवसरों पर गाए जाने वाले ध्रुवा-गीतों का सोदाहरण विवेचन है। साथ ही गायक, वादक, आचार्य आदि के गुण-दोषों का भी विवेचन है। ध्रुवपद विधान और ध्रुवा के पांच भेद, ध्रुवाओं के प्रयोग आदि की चर्चा है।

**अध्याय तैंतीस :** कुछ संस्करण में तैंतीसवां अध्याय वाद्याध्याय है। इसमें मृदंग, प्रणव, दर्दर आदि अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति, निर्माण एवं वादन विधि वर्णित है। कुछ संस्करण में यह अध्याय गुणदोष विचार मुख्यतः गायक, वादक के गुणदोष पर आधारित है।

**अध्याय चौंतीस :** कुछ संस्करण में चौंतीसवें अध्याय के अंतर्गत पुरुष एवं स्त्री पात्रों की विविध प्रकृति विस्तार से वर्णित है। कुछ संस्करण में अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति और उसके अंग प्रत्यंग विवरण, अवनद्ध वाद्यों के भेद और उसकी 18 जातियां, वाद्य संशय प्रकार, वाद्यों के लक्षण आदि पर केन्द्रित है।

**अध्याय पैंतीस :** पैंतीसवां अध्याय के अंतर्गत कुछ संस्करण में इसे भूमिका-पात्र-विकल्पाध्याय कहा

है। इसमें सुकुमार तथा आविद्ध नाट्य प्रयोग का विवरण तथा नाट्यमंडली के सदस्यों का परिचय है। इसके साथ ही पात्रों में विकल्प, भूमिका के अंग आचार्य के गुण, सूत्रधार आदि के लक्षणों पर केन्द्रित है।

**अध्याय छत्तीस :** छत्तीसवें अध्याय में नाट्यकला के भूतल पर अवतरण की कथा है। इस अध्याय में नाट्यावतार के विषय में प्रश्न करने वाले ऋषियों के नाम, उनके प्रश्न, मुनियों के ज्ञान की पृथ्वी तल पर नाट्य का संचार और नट्यशास्त्र की उत्पत्ति पर केन्द्रित है। कुछ संस्करण की समीक्षा इस अध्याय में हो जाती है।

**अध्याय सैंतीस :** इस अध्याय के अंतर्गत गुह्य तथ्य कथन या नाट्यावतरण, नाट्यशास्त्र का महत्व का निरूपण किया गया है। कुछ संस्करण की समाप्ति इस अध्याय के साथ होती है।

नाट्यशास्त्र के अध्याय संगठन से स्पष्ट होता है कि इसमें अध्यात्म और लोक को सामान्य रूप से संयुक्त कर विषयवस्तु को प्रमाणिकता प्रदान की गयी है। प्रसंगतः उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति के संदर्भ में भरत ने एक अत्यंत रोचक और सुस्पष्ट कारण प्रस्तुत किया है जिसका नूतन भारतीय अध्यात्म चिन्तन का लोकजीवन के व्यस्त में ओत प्रोत सम्मिश्रण की भूमिका को स्पष्ट करता है।

### संदर्भ सूची :

1. त्रिपाठी राधा वल्लभ, नाट्यशास्त्र विश्वकोश, अंक 1, श्लोक 116
2. दधीचि डॉ. पुरु, नाट्यशास्त्र का संगीत विवेचन
3. जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल

## रवीन्द्र संगीत पर शास्त्रीय संगीत का प्रभाव : एक विवेचन

डॉ. पुष्पम नारायण

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय संगीत को एक अभिनव स्वर से परिचित कराया है, जो उस समय तक पूर्णतः अज्ञात था। उनके गीतों ने जीवन के प्रवहमान क्षणों की चित्तवृत्ति को अभिव्यक्ति दी है।

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने संगीत की एक नई विधा को जन्म दिया जिसका नाम रवीन्द्र संगीत है। सन् 1825 ई० में रवीन्द्र संगीत शब्द का प्रयोग हुआ था। रवीन्द्र संगीत में पद लालित्य, भाव सौकुमार्य तथा धुन माधुर्य का अपूर्व समन्वय हुआ है। शिल्प सृष्टि में विभिन्न उपादानों का ऐसा समन्वय साधारणतया दिखाई नहीं पड़ता है। संक्षेप में, कथा और सुर का हर-गौरी मिलन या अर्द्धनारीश्वर रूप को ही रवीन्द्र संगीत कहते हैं।

संगीत को उन्होंने अनंत अमृत के दिग्दर्शन के रूप में ग्रहण किया। रवीन्द्र नाथ के अनुसार :

*"Our individual minds are the strings which catch the rhythmic vibrations of this universal mind and respond in music of space and time. The quality and number and pitch of our mind strings differ and their tuning has not yet come to its perfection, but their law is the law of the universal mind, which is the instrument of finitude upon which the Eternal player plays his dance music of creation.*

*..... Our freedom as a creator finds its highest joy in contributing its own voice to the concert of the world-music."*

विष्णुपुरी संगीत घराना से रवीन्द्रनाथ बचपन से ही विशेष रूप से प्रभावित थे एवं उक्त घराने के अच्छे-अच्छे कलाकारों के शास्त्रीय कार्यक्रम सुनते-सुनते उनके मन में उच्चांग संगीत का संस्कार अपने आप ही बन गया था। हिन्दुस्तानी संगीत से वे सदा ही मोहित थे। क्योंकि यह संगीत शुरू से उनके संस्कार में निहित था। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के विष्णुपुर घराने का नाम बंगाल के अतिरिक्त पूरे भारतवर्ष में स्वतंत्र मर्यादा के साथ प्रतिष्ठित था। इस घराने के ध्रुपद और ख्याल गायकी सभी संगीत श्रोताओं को मुग्ध करती थी। इसी घराने के क्षेत्रमोहन गोस्वामी ऑर्केस्ट्रा एवं स्वरलिपि पद्धति के पथप्रदर्शक थे।

शास्त्रीय संगीत की गायन शैली ध्रुपद जैसा ही प्रभाव उनके गीतों के चरण विभाजन में दिखाई पड़ता है। स्थायी अंतरा संचारी और आभोग जैसे चार ध्रुपद गीत के विभाजन रवीन्द्र नाथ के गीत में मिलता है। विष्णुपुरी घराने के धमार ताल के अनुरूप ही रवीन्द्रनाथ के धमार आंगिक गीतों में भी ताल देखने को मिलता है। बिहार के अमता घराना के पद्मश्री रामचतुर मल्लिक के द्वारा धमार गायन का प्रदर्शन विष्णुपुर या राविन्द्रिक धमार ताल पद्धति से मिलती है अर्थात् वे 3/2/2/3/4 का हिसाब रखते थे।

ध्रुपद की अपेक्षा रवीन्द्र संगीत पर ख्याल शैली का प्रभाव थोड़ा कम पड़ा। ये रचनाएं ख्यालांग

रवीन्द्र संगीत कहलाते हैं। ध्रुपदांगिक रवीन्द्र संगीत की तरह ही ख्यालांग रवीन्द्र संगीत भी दो भागों में विभक्त है - 1. मूल हिन्दी ख्याल पर आधारित गीत एवं 2. स्वतंत्र रचना गीत। ख्यालांगिक गीतों के ध्रुन एवं चलन शास्त्रीय होते हुए भी इसे रवीन्द्र संगीत की खास गायकी में ही गाया जाता है। कविगुरु ने ख्याल प्रकृति के कई गीतों में जरूरत पड़ने पर तान का प्रयोग किया। यह तान शास्त्रीय ख्याल की बोलतान की तरह ही शब्द पर आश्रित है। रवीन्द्र संगीत में तान का प्रयोग केवल भाव प्रकट करने के लिए किया गया है। इन गीतों का उदाहरण इस प्रकार है- दाओ हे हृदय भोरे दाओ, निशिदिन मोर पराने।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने संगीत के क्षेत्र में राग-रागिनी के सर्वव्यापी आकाश को करीब से देखा। उसी दृष्टिकोण से उन्होंने अपनी रचनाओं में राग मिश्रण किया। रवीन्द्र संगीत का परिवेशन रवीन्द्रनाथ के ही संयोजित ध्रुन और शिक्षा परंपरा के अनुरूप ही हो ऐसी कटिबद्धता ही इसे घराने का रूप प्रदान करती है। स्पष्ट है कि रवीन्द्र संगीत भी गुरुमुखी विद्या है। संगीत के अन्यान्य घराने भी गुरुमुखी परंपरा में ही कायम है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विभिन्न नृत्य-नाट्यों के माध्यम से गीत वाद्य और नृत्य के अपूर्व समन्वय को संगीत की परिभाषा “गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतं मुच्यते” के माध्यम से सार्थक किया है।

शास्त्रीय संगीत के कुछ गीतों का प्रकार प्राचीन प्रबंध गायन से प्राप्त होता है। उसी प्रकार रवीन्द्र संगीत में कई दीर्घ गीत मिलते हैं जैसे “कृष्णकलि आमि तारोइ वलि” शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में गीत के अनेक प्रकार जैसे-ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, तराना, लक्षण गीत, सरगम गीत, चतुरंग, तिरवट आदि के तरह ही रवीन्द्र संगीत में ध्रुपदांग, धमारांग, ख्यालांग, टप्पांग, ठुमरीअंग आदि के गीत मिलते हैं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रचलित प्रायः सभी राग-रागिनियों का प्रयोग रवीन्द्र संगीत में हो चुका है। 1909-10 ई0 तक कवि ने राग आधारित गीत रचे। गीतांजलि, गीति मालय तथा गीताली की अधिकांश रचनाएं राग-रागिनी पर ही रचित हैं।

उन्होंने राग-रागिनी का ऐसा सहज और मधुर रूप निखारा है कि सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी उसका उपयोग कर सके। रवीन्द्र संगीत में जहां प्रातःकालीन जागरण यात्रा या प्रातःरश्मिक कथाएं हैं वहां तोड़ी, आसावरी, भैरव, भैरवी, रामकली, कालिंगड़ा आदि प्रातःकालीन रागों का प्रयोग हुआ है। संध्याकालीन कथाओं में यमन, या पूर्वी, राग, रात की कथाओं में बिहाग, कानड़ा, खमाज आदि रागों का प्रयोग हुआ है। हिन्दुस्तानी संगीत के समय-सिद्धांत के अनुकूल ही उन्होंने रवीन्द्र संगीत की रचना की। उनका मानना था कि हमारे राग-रागिनियों के साथ विश्व प्रकृति का एक घनिष्ठ योग है जिस कारण भैरव सारे विश्व का जागरण करता है।

रवीन्द्र संगीत पर टप्पा गायन शैली का भी प्रभाव पड़ा। कविगुरु रचित गीतों में टप्पांगिक रचनाओं में मूल टप्पा गीत पर आधारित रचनाओं की अपेक्षा स्वतंत्र रचनाओं की संख्या ही ज्यादा है। रवीन्द्र संगीत में बांग्ला में प्रचलित टप्पा के विशेष रस निहित होने के बावजूद पंजाबी टप्पा वाले गुण भी हैं। इसीलिए रवीन्द्र संगीत के पूजा और प्रकृति पर्याय में कई टप्पांगिक रचनाएं पाई जाती हैं। उदाहरणस्वरूप - ए कि करुणामय, के बसिले आज हृदयासने कविगुरु के टप्पांगिक रवीन्द्र संगीत मूल राग, ताल एवं जमजमा पर आधारित होकर भी पंजाबी टप्पा गीतों से स्वतंत्र है। शब्दों के भावरस को धुनों, द्वारा सही रूप से व्यक्त करना इन गीतों का प्रधान लक्ष्य है।

रवीन्द्र संगीत पर लोकसंगीत का भी अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। बाउल गांव का प्रभाव रवीन्द्र संगीत पर सबसे अधिक पड़ा। इसके अतिरिक्त रामप्रसादी, सारि, कीर्तन आदि का प्रभाव भी रवीन्द्र संगीत में देखने को मिलता है।

भारतीय संगीत, जो कि शताब्दियों से दूषित एवं अपरिवर्तनशील हो चुका था, पुनः एक बार एक महान् निर्माता की रचनात्मक दोनों से उत्पन्न होने वाली गत्यात्मक जीवनधारा से गतिशील हुआ। ठाकुर के द्वारा भारतीय संगीत जीवन के साथ पुनः परमावश्यक संबंध प्राप्त कर सका और उसने अपने

आपमें रचनात्मक भविष्य के आश्वासन का अनुभव किया।

रवीन्द्रनाथ का कहना था कि यदि बंगाल के लोग मेरा सम्पूर्ण साहित्य भुला भी देंगे तब भी मेरे गीतों को वे अवश्य याद रखेंगे। उन्हें मेरे गीत गाने ही पड़ेगें। उन्होंने अपील के रूप में कहा 'सभी गीत मेरे गीतों के निकट हैं।' भविष्य की पीढ़ी से मेरी यही प्रार्थना है कि मनुष्य को आनन्द देने वाले संगीत को हमेशा सुरक्षित रखा जाय और यही हमारा कर्तव्य भी है।

रवीन्द्र संगीत अपने आप में इतना विशाल है कि इसे गिने-चुने शब्दों में व्यक्त करना मुश्किल है। यह एक गुरुत्वपूर्ण गवेषणा का विषय है। रवीन्द्र संगीत का शास्त्रीय संगीत पर प्रभाव एवं शास्त्रीय

संगीत का रवीन्द्र संगीत पर प्रभाव शोध का महत्वपूर्ण विषय है। इसपर विभिन्न गायन शैलियों के अलग-अलग प्रभाव पर विचार करना महत्वपूर्ण है।

### संदर्भ सूची :

1. Personality by Ravindra Nath Tagore. Mac millan and Co. Ltd., 1970, pp. 54-55
2. दास प्रफुल्ल कुमार, रवीन्द्र संगीत गवेषणा ग्रंथमाला प्रथम भाग, श्री प्रभात नियोगी सुरंगमा, 33 रासविहारी एम्बेन्चू, कलकता-26, 1972
3. दास डॉ० दीपाली, रवीन्द्र संगीत की रूपरेखा, जानकी प्रकाशन पटना, 1988.
4. ठाकुर रवीन्द्रनाथ, स्वर वितान, विश्वभारती प्रकाशन

## तबला वादन में अभिप्रेत वाणी : एक विवेचन

डॉ. नीलू शर्मा

भारतीय संगीत में 'तबला' सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय ताल वाद्य है; जिसका शास्त्रीय आधार है। स्वतन्त्र वादन एवं संगति दोनों में ही बहुप्रचारित यह ऐसा अवनद्ध वाद्य है, जिसमें अन्य वाद्यों जैसे - पखावज, ढोलक, नाल इत्यादि सभी वाद्यों के गुण विद्यमान हैं। अर्थात् तबला सभी वाद्यों की विशेषता अपने में समेटे हुये है साथ ही अपनी मौलिकता एवं लचीलापन भी बनाये हुये है।

'तबला' शब्द, हिन्दुस्तानी संगीत में दो उर्ध्वमुखी अवनद्ध वाद्यों की जोड़ी के रूप में दोनों हाथों की अँगुलियों व हथेलियों के आघात से बजाये जाने वाले एक उन्नत अवनद्ध वाद्य या कभी-कभी उसके दाहिने भाग के लिये व्यवहार किया जाता है। हिन्दी शब्द कोश के अनुसार, तबला शब्द का अर्थ है, चमड़े से मढ़ा एक बाजा।<sup>1</sup> अथवा ताल देने का एक प्रसिद्ध बाजा जो काठ के खोखले कूंड पर चमड़ा मढ़ा होता है।<sup>2</sup>

तबला जोड़ी के अन्तर्गत दो नग होते हैं। प्रथम नग काष्ठ निर्मित एवं द्वितीय नग मिट्टी अथवा धातु निर्मित होता है। काष्ठ निर्मित नग को दाहिना तबला एवं मिट्टी या धातु निर्मित नग को हम बाया तबला कहते हैं। चूँकि काष्ठ निर्मित नग को प्रायः तबला एवं डग्गा भी कहते हैं। चूँकि काष्ठ निर्मित नग को प्रायः दाहिने हाथ से बजाते हैं, इसलिये इस नग को दाहिना तबला के रूप में सम्बोधित करते हैं। परन्तु कुछ लोग इस नग को दाहिने के स्थान पर बाये हाथ से भी बजाते हैं, उन वादकों के लिये 'तबला' एवं दूसरे नग को 'डग्गा' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

तबला वाद्य में मुख पर खाल की पर्त मढ़ी हुई होती है, जिसे पूड़ी कहते हैं, जिसके मध्य भाग में स्याही होती है एवं किनार पर चांटी। चांटी अथवा किनार के बीच का भाग मैदान कहलाता है। जिनमें अँगुलियों के आघात से पृथक-पृथक नाद एवं उनका शब्द प्रकट होता है। डग्गे पर भी स्याही होती है, लेकिन मध्य से थोड़ी दूरी पर। वादक बाये हाथ की कलाई, मध्य में रखकर, जिस प्रकार सर्प अपना फन फैलाता है, उस प्रकार पंजा रखते हुये अँगुलियों के आघात से बोल (या अक्षर) ध्वनित करता है साथ ही कलाई से चमड़े की पूड़ी को दबाकर बोलों में चढ़ाव-उतार (शब्दों की गहराई) लाता है। अर्थात् एक प्रकार का संयुक्त गुंजन उत्पन्न होता है।

तबले को गायक या वादक के सुर में मिलाया जाता है। डग्गे को गायक के अभिप्रेत षड्ज या गंधार में मिलाया जाता है। इस प्रकार एक संयुक्त स्वर मिलाप निर्मित होता है। जिससे मूल स्वर से सुसंवाद निर्माण होता है। तबले एवं डग्गे, इन दोनों के संयुक्त गुंजन से ही तबले की भाषा, वाणी सौंदर्य द्वारा कला स्वादन प्राप्त होता है।

### वाणी विचार :-

'वाणी' इस शब्द का उच्चारण करते ही कण्ठ, जबड़ा और जिह्वा इन तीनों बातों का विचार मन में आता है। तबला वाद्य में वाणी विचार करने से पूर्व कण्ठ से नाद कैसे ध्वनित होता है ? यह जानना आवश्यक है। वाणी उच्चारण में सर्वप्रथम कण्ठ से नाद निकाला जाता है। इस नाद को जिह्वा की हलचल एवं जिह्वा की सिकुड़न-प्रसरण के जरिये,

एसोसिएट प्रोफेसर (तबला), दयालबाग एडुकेशनल इन्स्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा

अभिप्रेत (संयुक्त उच्चारण द्वारा) स्वरयुक्त शब्द प्रगट किये जाते हैं। तबला एवं बांया इन दोनों पर एक साथ हल्का खुला नाद निकाला जाये, तो उसे कण्ठ नाद कहा जा सकता है। जिब्हा एवं जबड़े का काम दो हाथों की अँगुली-पोर की मदद से किया जाता है। यह मात्र एक आकृति है, जिसके माध्यम से वाणी विचार को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। तबला वादन में अभिप्रेत वाणी के अन्तर्गत वादक की बैठक, हाथ का रखाव, वर्ण, निकास पद्धति, पढन्त इत्यादि मुख्य हैं। इन सभी तत्त्वों के समन्वित रूप से ही तबला वादन में नियंत्रित एवं ध्वनि निष्पादन द्वारा सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है। इन तत्त्वों का वाणी विचार के संदर्भ में संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है -

#### बैठक :-

तबला वादन में बैठक महत्वपूर्ण है। तबला वादक की सम्पूर्ण प्रस्तुति बैठक पर ही निर्भर करती है क्योंकि जो कुछ भी हम तबले पर बजाते हैं उसका वजन वक्ष तथा कन्धों पर पड़ता है। इस सन्दर्भ में यह देखना पड़ता है कि किस आसन से बैठा जाये, जिससे वक्ष व कन्धों पर कम से कम वजन पड़े साथ ही सही बैठक से ही मन एकाग्र होता है। तबले पर बजने वाले बोलों में वजन अथवा जमाव आता है, हाथ की मुद्रा आदि पर भी प्रभाव पड़ता है एवं अभ्यास के समय अधिक देर तक बैठा भी जा सकता है। अभ्यास से ही बोलों में वजनदारी, स्पष्टीकरण तथा तैयारी इत्यादि में कलात्मकता आती है, जिससे सौन्दर्य वृद्धि के साथ-साथ ही तबला वादन की अभिप्रेत वाणी पर भी प्रभाव पड़ता है।

#### हाथ का रखाव :-

तबला वाद्य पर प्रत्येक अँगुली का रखाव एवं संचालन पृथक-पृथक होता है। दांये तथा बांये दोनों हाथों की पाँच अँगुलियों को क्रमशः अँगूठा, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठा नाम से सम्बोधित किया जाता है। तबला वादन में अनामिका अँगुली सम्पूर्ण हाथ के संचालन की मुख्य धुरी है। इसको आधार मान कर ही हाथ की अन्य अँगुलियाँ संचालित होती

हैं। अनामिका की स्थिरता से ही तबले में आँस उत्पन्न होती है एवं बोलों के निकास में स्पष्टता आती है। वाद्य पर तर्जनी के आघात से नाद निकाला जाता है। मध्यमा अनामिका एवं कनिष्ठा (संयुक्त), उसे शब्द स्वरूप लाने में मदद देती हैं। अँगूठे का काम इन चारों अँगुलियों को संतुलित रखने के लिये होता है। बांये पर मध्यमा एवं अनामिका (नौकों से नाग के फन की आकार में) खुला नाद निकालने का काम करती हैं एवं तर्जनी सहायक अक्षरों का नाद निकालती है। इस खुले नाद को कलाई एवं अँगूठे के दबाव से सिकुड़न-प्रसरन भाव प्रगट किये जाते हैं या अभिप्रेत गुंजन प्राप्त किया जाता है व शब्द का आकार दिया जाता है।

#### वर्ण :-

तबले पर दाहिने तथा बायें दोनों पर मिलाकर कुल दस बोल होते हैं। ये ध, ग, द, त, र, क, ट, न, घ, इ हैं। पखावज अंग की तालों में कभी-कभी 'म' और 'ध' बोल भी तबले पर बजाये जाते हैं। यदि ध्यान से देखा जाये तो तबले के मुख्य वर्ण सात ही होते हैं; जो ध ग द त र क और ट हैं। अन्य वर्ण इनके अनुयायी होते हैं। उदाहरण के लिये 'त' का अनुयायी 'न' है और ट का 'इ' और 'ग' का अनुयायी 'घ' होता है।<sup>3</sup>

दाहिने हाथ से बजने वाले वर्ण - ता या ना, तिं ता ती, दिं तू, ते, रे हैं।

बायें हाथ के वर्ण - ग, घ और क या कत् हैं।

तबला वाद्य के विचार या शिक्षा में, वाणी विचार के मूल तत्त्वों का वर्ण विचार, उच्चार स्थान एवं जुड़े बोलाक्षर हैं। जिसमें जुबान, छोटी जुबान, कण्ठ मूर्धा, तालू, दंत, दाँत होंठ इत्यादि का स्थान महत्वपूर्ण है।

तबले की भाषा के जो भी वर्ण हैं, वे बड़ी संख्या में कंठ्य तथा दंतव्य वर्ण समूह है। जैसे- क, घ, ग वर्ण समूह कंठ्य हैं एवं त, थ, द, ध, वर्ण समूह दंतव्य। अर्थात् जो वर्ण समूह कंठ से निकलते हैं, उन्हें कंठ्य तथा जिन वर्णों के उच्चारण में दांतों का भी प्रयोग होता है, उन्हें दंतव्य वर्ण समूह कहते हैं।

व्याकरण में ऐसा भी कहा गया है कि 'ह' अक्षर महाप्राण है। तबले के कुछ नादाक्षर शुद्ध रूप में प्रस्तुत होते हैं एवं यही नादाक्षर कभी-कभी महाप्राण के साथ बजाये जाते हैं, जिनका उच्चारण निम्नलिखित होता है -

गे + ह	=	घे
दा + ह	=	घ
दी + ह	=	धी
तुं + ह	=	धुं

### निकास :-

तबले पर बजने वाले प्रत्येक वर्ण के निकास में भिन्नता होती है, इसलिये इनकी नादात्मक गुणवत्ता भी पृथक होती है। जैसे 'ता' का निकास तर्जनी से चाँटी पर ति का अनामिका एवं कनिष्ठा से स्याही पर एवं धा का निकास संयुक्त रूप से होता है। तिट् और तिट ये अक्षर साथ में बजते हैं, ऐसा मुझे लगता है। ति की उंगली जगह पर रखते हुये 'ट' बजाना। इन दोनों में फर्क मापना मुश्किल है। नाद एवं दबा हुआ नाद होता है।

तबले पर बजने वाले अक्षरों/बोलों के विशिष्ट स्थान या पद्धति जिससे उँगलियों का संतुलन, बोली भाषा से समन्वय एवं नाद युक्त शब्दों का उचित एवं सरल संतुलन होता है। प्रायः सभी तबला शिक्षक, शुद्ध निकास शब्द का उपयोग करते हैं और वह योग्य भी है। इस संदर्भ में हम, निकास यानि तबले पर अक्षर बजाने की पद्धति ऐसा समझते हैं। दो संकल्पनाओं से ही निकास सिद्ध होती है, तालीम एवं रियाज। इन दोनों में 'सबक' महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि तबला वादन में वर्ण निकास रूबरू तालीम से ही संभव है। इसलिये 'निकास' शब्द का तबला वादन में विशेष महत्त्व है। पृथक-पृथक स्थानों पर (लव, चाँटी, स्याही) उँगलियों के आघात होने से बोल/अक्षर बजते हैं। बाँया पर कम-अधिक दबाव (दाब-गॉस) द्वारा भाषा अथवा वाणी का उतार-चढ़ाव साध्य होता है। इसलिये निकास परिपक्व होना आवश्यक है। इसके लिये गुरु शिष्य परम्परा द्वारा ही सीखने पर उचित नाद, सुलभता, स्वाभाविकता इत्यादि गुण वादन में आ सकते हैं। ऐसे वादन में ही जान होती है।

प्रारम्भ में, मूल अक्षर बजाने की पद्धति जो स्थान और भिन्न हस्त मुद्रा द्वारा पढ़ाये जाने वाले पंजे की मुद्राओं बताने से हाथ को दायाँ-बायाँ की ओर एवं आगे पीछे करना भी सुलभ होता है। इसके साथ जोड़-अक्षर (दो, तीन या चार अक्षरों के शब्द) जैसे कापदे, रचनायें दिये जाते हैं। विलम्बित एवं मालव लय में अँगुलियों का वजन खुला रखकर तालीम दी जाती है। तदुपरान्त मध्य से आगे बढ़ने पर निष्कारण में फर्क करना पड़ता है। बोलों के सूक्ष्म अंग आघात, उच्चारण से समझकर, तर्जनी या अनामिका के उपयोग से तबले की आँस का सहारा लेते-लेते बोल ध्वनित करने पड़ते हैं। डग्गे पर दाब-गॉस द्वारा वाणी स्वरूप स्पष्ट होता है। वाणी अनुसार तबले सिखाना इसी लय में किया जाता है। इस लय में तबले का वादन अँगुलियों द्वारा इशारे से किया जाता है। मात्र अँगुलियों की हलचल से ही बोल ध्वनित होने लगते हैं। भाषा का उतार-चढ़ाव, भाषा सौन्दर्य, रचनाओं में अभिप्रेत अक्षरों की गहराई का सब चिरानन्द की अवस्था तक पहुँचने हेतु साध्य किये जाते हैं, तब ही भाषा एवं वाणी की पहचान होती है जिसका ज्ञान गुरु के माध्यम से ही प्राप्त होता है।

तबला वादन के छः घराने हैं जिनकी वादन शैली भी भिन्न-भिन्न है। इसलिये प्रत्येक घराने के वर्ण निकास में वजन का सूक्ष्म अन्तर भी दिग्दर्शित होता है जो घराने की वादन विशेषता को दर्शाता है। बजाने के ढंग एवं बन्दिशों के गठन दोनों ही ध्वनि निष्पादन में महत्त्वपूर्ण होते हैं। यथा- 'ता' का निकास दिल्ली में चाँट पर होता है, जबकि पूरब में यह अधिकांशतः लव पर होता है। पृथक-पृथक स्थानों पर बजाये जाने के कारण नादोत्पत्ति में भी अन्तर होता है। इसलिये पूरी रचना अथवा बन्दिश में भी यह प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

### पद्धन्त :-

तबला वाद्य पर विभिन्न बन्दिशों का वादन किया जाता है, जिनकी रचना भिन्न-भिन्न प्रकार के बोल समूहों से होती है। अर्थात् विभिन्न वर्णों के संयोग से शब्द एवं शब्दों के समूह से रचना की विधि की जाती है और जब रचना को ताल के नियमों में

अन्तर्गत बाँध दिया जाता है तो वह बन्दिश कहलाती है। तबला वादन की शिक्षा प्रक्रिया में पढ़न्त का महत्त्व है। पढ़न्त में वाणी विचार छिपा हुआ है। विलम्बित लय में होने वाले वाणी उच्चारण से द्रुत एवं अतिद्रुत लय में बदलाव होता रहता है। इस बात को ध्यान में रखकर पढ़न्त की शिक्षा भी होनी चाहिए। किसी भी बन्दिश के वादन में किस बोल पर कितना, बल दिया जायेगा, यह सब पढ़न्त के माध्यम से समझना आवश्यक होता है तब ही वादन के समय वर्णों की उन संतुलित गहराई को समझा जा सकता है। विद्वान तबला वादकों का मानना है कि जैसी हम पढ़न्त करेंगे वैसा ही हमारा वादन होगा। साफ एवं स्पष्ट पढ़न्त वादन में भी स्पष्टता लाती है। किसी भी बन्दिश को सर्वप्रथम लय में पढ़न्त द्वारा ही कंठस्थ किया जाना चाहिये तदुपरान्त उसका वादन।

अतः कहा जा सकता है कि तबला वादन में स्वर व्यंजनों के माध्यम से होने वाली नादात्मक गुणवत्ता इस वाद्य का अन्तर्निहित भाव है। वाद्य के इस भाव को समझना गुरु मुख से ही संभव है। तबले संबंधित किसी भी बन्दिश को वादक द्वारा तभी प्रदर्शित किया जा सकता है, जब बन्दिश में प्रयुक्त बोल की वादन तकनीक, बोलों के वादन में

भिन्न-भिन्न अँगुलियों का संचालन, लय, दाँये व बाँयें का सन्तुलित समन्वय, तैयारी, अभ्यास, बोलों के अनुरूप उचित ध्वनि निष्पादन इत्यादि सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त हो। यह ज्ञान रूबरू तालीम से ही प्राप्त होता है। साथ ही किसी भी प्रतिभावान कलाकार का वादन सौन्दर्यपूर्ण तभी होता है जब कलाकार बोल सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य एवं शुद्ध उच्चारण को अपने अभ्यास, चिंतन एवं मनन द्वारा परिमार्जित कर वाद्य पर अर्थहीन व निरर्थक बोलों को सार्थकता प्रदान करता है। अर्थात् लय-नाद-संवादात्मक वादन ही तबला वादन की अभिप्रेत वाणी है।

### संदर्भ सूची :

1. प्रस्तुत शोध पत्र में बापू पटवर्धन द्वारा लिखित पुस्तक 'धिरकवा शैली' में लिखित उनके विचारों को लिया गया है।
2. स्व० पंडित रंगनाथ मिश्र, स्व० पंडित नलिन सुन्दरम भट्ट, डॉ० गिरीश चन्द श्रीवास्तव, प्रो० मुकुन्द भाले एवं पं० अनुपम राय के विचारों को भी इस लेख में सम्मिलित किया गया है।
3. राजपाल हिन्दी शब्द कोश - पृ० 352
4. नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृ० 498
5. मानक हिन्दी कोश - पृ० 509
6. शर्मा पं० भगवत शरण, ताल प्रकाश, पृ. 29

# भारतीय संगीत, संस्कृति एवं दर्शन का अविभाज्य संबंध

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

भारतीय शास्त्रीय संगीत भारत की श्रेष्ठ सांस्कृतिक संपदा है। हमारी मान्यता है कि हर तरह की अस्थिरता या अविवाद से त्रस्त भारतीय समाज को जरूरी कल्याणकारी शक्ति केवल सांस्कृतिक आंदोलन से ही मिल सकती है। मनुष्य की प्रकृति एवं व्यवहार को समझने के लिए हम उसकी संस्कृति का अध्ययन करते हैं। अभ्यास को मानव चरित्र समझते हैं। संस्कार करना या परिमार्जन संस्कृति कहलाता है। संस्कृति का संबंध आत्मा, मन तथा अंतःकरण तीनों के पवित्र एकीकरण से होता है। इस पवित्र एकीकरण के भाव संगीत में प्रस्फुटित होते हैं। विभिन्न सांगीतिक आयोजनों से हमारी संस्कृति को एकसूत्र में बंधन का अवसर मिलता है। इसे हम संगीत की संस्कृति कह सकते हैं जो एक तरफ हमें एक सूत्र में बांधती है तो दूसरी तरफ हमारे जीवन में कोमल भावनाओं का संचार भी करती है।

परंपरागत गाथा गायन या लौकिक संगीत में अंतर्निहित स्वर-ताल हमारे आध्यात्मिक उन्नयन के मार्ग खोलते हैं। इसी प्रकार, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की विविध शैलियों में सर्वाधिक प्रचलित ख्याल एवं गंभीर शैली ध्रुपद को ज्ञान-चक्षु खोलने का मार्ग समझा जाता है। संस्कृति का अलौकिक पक्ष धर्म है और लौकिक पक्ष कर्म है। वेदों को हमारे यहां धर्म का मूल कहा गया है। धर्म-विहित कर्तव्यों पर ही राजधर्म तथा राष्ट्रधर्म निर्भर रहता आया है और जीवन में उनका आचरण ही संस्कृति है।

संगीत आचरण बरतने की शिक्षा देता है। अपसंस्कृति का अनिवार्य अंग है।

अति भौतिकता, कृत्रिमता और अपसंस्कृति से परिपूर्ण (विदा लेती हुई) 20वीं शताब्दी 18वीं शताब्दी से पनपी औद्योगिक क्रांति ने मानव शक्ति को पीछे ढकेल कर यंत्र शक्ति का विकास किया। विज्ञान के विकास ने प्रकृति के कुछ रहस्यों को सुलझाया जल्द लेकिन तकनीकी चकाचौंध में विवेचन, चिंतन, साहित्य और कला की घोर उपेक्षा हुई है। आनेवाली 21वीं शताब्दी के पूर्व हमें विचारकों, कलाकारों संगीतविदों, नीतिनिर्माणकों, साहित्यकारों को उनकी अपनी गरिमा देनी होगी। भारतीय संगीत की अधुनातन प्रस्तुति में हजारों वर्षों का समय लगा है। बदलती हुई सभ्यता-संस्कृति के अनुरूप इसका विकास और हास भी चलता रहा है। इसी में हमारा संगीत भारतीय सीमाओं को लांघकर विश्व स्तर पर ख्याति प्राप्त कर रहा है। विभिन्न देशों में आयोजित भारतीय महोत्सव, म्युजिकल नाइट्स ने चतुर्दिक संक्रमणग्रस्त अतिभौतिक वर्तमान युग में भी भारत की सांस्कृतिक पहचान में कई विशिष्ट और नूतन आयाम जोड़े हैं।<sup>1</sup> 384 वर्ष ईसा पूर्व यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु कह गए हैं कि किसी समाज के राजनीतिक स्थिति का वर्णन वहां की सांगीतिक स्थिति को देखकर किया जा सकता है।

हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी<sup>2</sup> ने भी संगीत को राष्ट्रीय करण का स्वप्न देखा था। उन्होंने कहा

हे-“संगीत अर्थात् लय, तारतम्य। इसका प्रभाव विद्युतकारी है। यह तत्काल सांत्वना प्रदान करता है। दुर्भाग्यवश हमारे शास्त्रों की तरह हमारा संगीत भी कुछ मुट्ठी भर लोगों के विशेषाधिकार की वस्तु बन गई है। इसका आधुनिक अर्थ में राष्ट्रीयकरण नहीं हो पाया है।”

संगीत शिक्षा के रूप में और शिक्षा के सांस्कृतिक आधार के रूप में अति प्राचीन समय से हमारे बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास का द्वार खोलती आयी है। भारतीय संगीत का सांगोपांग अध्ययन स्पष्ट कर देता है कि हमारी सांगीतिक परंपरा हमारी सांस्कृतिक विरासत है। अस्तु: विद्या रूप में संगीत एक स्वतंत्र विद्या है, स्वतंत्र कला है, लेकिन विशिष्ट रूप में शिक्षा का सांस्कृतिक आधार है। एक मौलिक समस्या यहां पुनः उठ सकती है - आज के लिखित, अतिविकसित तकनीकी युग में संगीत की भूमिका क्या समाप्त नहीं हो जाती? जवाब है कि आज भी संगीत नृत्य-वादन भाषा की संवेगात्मक अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। कैसे? किसी भी भाषा के व्याकरण में संप्रेषण के लिए भाषा अथवा संवेग का महत्वपूर्ण स्थान होता है। भारतीय संगीत चाहे उसका रूप शास्त्रीय संगीत का हो, उपशास्त्रीय अथवा लोक संगीत का, संप्रेषण और भाव संप्रेषण का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। भारतीय संगीत के इतिहास को भारतीय सांस्कृतिक विकास की कहानी कहा जा सकता है। संगीत एक गति है और हमारी क्रियाएं गति के बिना संपादित नहीं हो सकती। ऐसा कहा जा सकता है कि संगीत एक गत्यात्मक कला है जो अपने विषय से संबंधित विकास की सामग्री सामाजिक जीवन से लेता है। संगीत की गति और हमारी क्रियाओं में जो सादृश्य है उन्हीं की वजह से सुमधुर ध्वनि युक्त राग-रागनियां हमारी आत्मा को प्रभावित करती है।

मानव जीवन से उतना ही पुराना संगीत का संबंध है जितना कि मानव का प्रकृति से है। संगीत को मानव के लिए उतना ही स्वाभाविक माना गया है जितना उसका बोलना। इस संबंध में हम हिन्दी विश्वकोश का उद्धरण देना चाहते हैं-<sup>3</sup> ‘कब से मनुष्य ने गाना प्रारंभ किया, यह बतलाना उतना ही

कठिन है जितना कि कबसे उसने बोलना प्रारंभ किया। परंतु बहुत काल बीत जाने के बाद उसके गान ने व्यवस्थित रूप धारण किया।’

जहां तक संगीत के विकास की बात है, हम नारदीय शिक्षा में वर्णित एक स्वर से सात स्वर के विकास को देखें, नारदीय शिक्षा में वैदिक गीत श्रेणी को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आर्थिक गायन एक स्वर, गाथिक गायन-दो स्वर, सामिक गायन-तीन स्वर, स्वरान्तर गायन-चार स्वर, औडव गायन-पांच स्वर, षाड्व गायन-छः स्वर एवं संपूर्ण गायन-सात स्वर वाला था। यथा-

एक स्वर प्रयोगोहि आर्चिकः सोहभिधीयते।

गाथिको द्विस्वरोज्ञेय स्त्रिस्वरश्चैव सामिकः ॥

चतुः स्वर प्रयोगोहि कथितस्तु स्वरान्तरः।

औडुवः पंचमिश्चैव षाडवः षट् स्वरोभवेत् ॥

संपूर्णः सप्तमिश्चैव विज्ञेयो गीतयोक्तुतिभः ॥

संगीत का आदर्श है ज्ञान के सुनहले रत्नों को अपने स्वर में एकत्रित कर हर तरह के भेद-भाव को मिटाना। आज भेद-भाव से हम त्रस्त हैं सामाजिक मूल्यों के हास को महसूस कर कभी उबल पड़ते हैं कभी मौन साध लेते हैं। लोक प्रचलित संगीत में मूल्यों को वहन करने की शिक्षा सदा ही निहित रही है। इसके पीछे कारण यह है कि अपने संगीतात्मक अभिव्यक्ति में संगीतज्ञ समाज और समय की प्रतिकृति अंकित करते हैं। सांगीतिक प्रस्तुति में हमें फिर विविध राष्ट्रीय समस्याओं के अनुकूल राष्ट्र के निर्माणशील और स्वस्थ प्रभावों को अभिव्यक्त करना होगा। गाना और रोना मानव का प्राकृतिक स्वभाव है। विभिन्न समारोह चाहे वह पारिवारिक हो या सामाजिक, गीत और नृत्य से परिपूर्ण होते हैं। मानव ही केवल गायन के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त नहीं करते बल्कि वर्षा ऋतु में हम सुंदर पक्षी मयूर को नाचते देखते हैं, रिमझिम बरसते नन्हें फुहारों पर पपीहे गा उठते हैं। घनघोर बारीश में झिंगुर और दादुर अपना राग अलापते हैं, वसंत ऋतु में पेड़ों पर मंजर लगते ही चारों तरफ कोयल कूकने लगती है। प्राचीन युग से आज तक हर देश की सेना में युद्ध के मोर्चों पर उत्साह वृद्धि के लिए

संगीत का प्रयोग किया जाता है। संगीत के प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाते हैं लेकिन उससे होने वाले प्रभाव और उसमें निहित सृजनात्मक तत्व नहीं बदलते। चारित्रिक उत्थान एवं वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए बुद्ध काल से ही संगीत को सर्वोत्तम साधन माना गया है। यदि हमें राष्ट्र के सांस्कृतिक स्तर को उन्नत करना है तो संगीत इसका सरल और सर्वोत्तम माध्यम बन सकता है। संगीत व्यक्ति को मानसिक पूर्णता देकर उसमें प्रसन्नता, सहृदयता, और सद्भावना का संचार करता है।

संगीत की मधुर ध्वनियां प्राणीमात्र के स्वरूप को भावात्मकता देती है। जोड़ने की शक्ति संगीत की मधुर ध्वनियों में है। सामाजिक अनुशासन, सामाजिक एकता तथा सामाजिक व्यवहार संगीत के माध्यम से संबंधित होते हैं। मानव व्यक्तित्व में मन की भूमिका अत्यंत ही महत्वपूर्ण मानी गयी है। यह मानव की समस्त क्रिया-कलाप मानव के सामाजिक जीवन से संबंधित होते हैं। संगीत का संबंध मानव मन से ही है। राष्ट्र-रूप में भारत जब तक प्रमादी, उग्रवादी, अतिवादी तत्वों की वासनामयी तृष्णा से अपनी मर्यादा को बचाता रहा है, तब तक संगीतमय समस्वरता से हमारा जीवन शांतिपूर्ण सर्वांगीण विकास हेतु प्रयत्नशील रहा है क्योंकि लय-ताल युक्त स्वर अर्थात् सांगीतिक समस्वरता के लिए सतत् अभ्यास एवं अनुशासन आवश्यक शर्त है। जिनके हृदय में दया, प्रेम, स्नेह और करुणा के भाव होते हैं उनके शारीरी वीणा (कंठ) से निःसृत संगीत की सुरीली धारा अपनी अभिव्यक्ति से श्रोता के हृदय के घृणा, द्वेष, आक्रोश, कलह और हिंसा के भावों को पिघलाकर अच्छे भावों में परिणत कर देती है। जब हृदय के कोमल भाव पिघलते हैं तभी कंठ से सुर सरिता बहती है। इसलिए संगीत की प्रथम शर्त प्रेम है। अपनी घातक सभ्यता से दुःखी तथाकथित सुसभ्य पाश्चात्य जगत पुनः उत्कट अभिलाषा लिए भारत की ओर देख रहा है। ऐसे समय में राष्ट्र-चिंतक, वैज्ञानिक साहित्यकार और संगीतकार सबों को मिलकर संस्कृति, अनुशासन पर विचार करना है, नई दिशाएं खोलनी हैं। अपने प्रयोग में संगीत प्रेम की भाषा

सिखलाता है और इसकी दार्शनिक आधारशिला व्यक्ति को पूर्णता की ओर ले जाती है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत के तीन पक्षों के प्रयोग-सिद्धांत पक्ष दर्शन के बहुत ही समीप है क्योंकि दर्शन से संगीत अपना आधार लेता रहा है। संगीत की विशिष्टता वहां बढ़ जाती है जहां वह दर्शन को लयात्मक धरातल देती है। यह कहना भी सत्य है कि अपने सिद्धांतों के निर्माण में संगीत का शास्त्र पक्ष दर्शन की नींव लेता है। संगीत की महत्ता दर्शन की तुलना में वहां दीखती है जहां दार्शनिक वाद-विवाद के बदले तत्व चिंतन मुखर होता है। सांगीतिक काव्यों में निहित जीवनादर्श की मीमांसा दर्शन क्षेत्र में की जाती है। इन विवेचनों में कोई दार्शनिक संप्रदाय नहीं खड़ा होता। किसी मत का खंडन और किसी अन्य मत का मंडन नहीं होता बल्कि साकार ईश्वर की ओर हमारा ध्यान केन्द्रित होता है। संगीत के प्रति हमारा यह अध्ययन भारतीय संगीत के क्षेत्र में तथा भारतीय दर्शन के क्षेत्र में कला दर्शन की अपनी संस्थापना के निमित्त प्रेरित करता है। हमारे यहां कला-दर्शन की बात करना कोई नई बात नहीं है और न हम इसे प्लेटो, क्रोचे, हीगेल, लैगर जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों की परिकल्पना मात्र ही कह सकते हैं। The Religion of India<sup>4</sup> में मैक्स बेवर स्पष्ट कहते हैं कि कुमरिल भट्ट तथा शंकराचार्य के साथ ही लिंग संप्रदाय, भक्ति आंदोलन, सिद्धि एवं संत सभी ने गायन के माध्यम से जन साधारण के जीवन को एक दिशा दी है। चर्चित काश्मीरी शैव योगिनीलाल दीदी<sup>5</sup> या लल्ला योगीश्वरी 14वीं शताब्दी की दार्शनिक है। आपके द्वारा रचित काश्मीरी पदों में ऐसी शक्ति देखी गई कि इन गीतों ने राष्ट्रीय स्तर पर मन को मोड़कर एक राष्ट्रीय आदर्श दिया तथा अपने पश्चात् 15वीं शताब्दी के संतों और भक्तों (रामानंद, कबीर) पर अपने गीतों के माध्यम से अपना प्रभाव छोड़ा। राष्ट्रीय चेतना को इन्होंने अपने समय में एक नई दिशा दी थी। इस वजह इन्हें देव-दूती भी कहा जाता है। उनकी दार्शनिक कविताएं जनन मानस तथा दर्शन जगत दोनों को उद्वेलित करती है।

वे मूर्ति पूजा की प्रखर आलोचक और यौगिक ध्यान परंपरा की जबरदस्त समर्थक थी। विष्णु गुप्त, सोमानंद तथा अभिनव गुप्त की तरह कश्मीरी लोगों को साक्षात् रूप से प्रभावित करनेवाले विचारों की उंचाई लिए हुए लाल दीदी का संपूर्ण जीवन ही दार्शनिक गीतों से परिपूर्ण रहा है। उपनिषदों एवं गीता के विचारों को गीतों में गढ़कर जीवनपर्यन्त वे ढालती रही। ऐसा लगता है कि वे दर्शन को गीतों में व्यक्त कर रही थी। उनके हृदय के भाव काव्यमय थे और मस्तिष्क दार्शनिक। जैसा कि सच्चिदानंद मूर्ति की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट होता है-

'It is interesting how an inspired and brilliant brahuana woman transformed the Trika thought under diverse influences reconstructed it in her way and disseminated it among common people. Her efforts to bring about religious. harmony. synthesize different spiritual equality and brotherhood of race and castes. to come extent paved the way for the North Indian reformers who come after her.'

यद्यपि संपूर्ण विश्व में संगीत, धर्म, उपासना और विभिन्न धर्मानुष्ठान से जुड़ा रहा है फिर भी भारतीय संगीत तथा अन्य देशों के संगीत में पर्याप्त अंतर है। अन्य देश के संगीत लोक रुचि, समाज तथा जलवायु के अनुरूप रूपांतरित होते रहे हैं जबकि भारतीय संगीत संस्कृति के अनुरूप परिवर्तित होती हुई भी मौलिक रही है। इसका मूल रूप आध्यात्मिक और धर्मानुकूल है। संभवतः इस वजह से संगीत को अन्य विषयों से अधिक प्रशंसा मिलती है। हालांकि वर्तमान समय में प्रचलित गायन की विविध शैलियां प्राचीन शैली से नितांत भिन्न हैं, फिर भी उनका मूल रूप वही है। मूल रूप इसलिए वही है क्योंकि हमारा जो आरंभिक स्वर होता है वही उनका अंतिम स्वर होता है। हमारी दार्शनिक मान्यता सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया को चक्रीय प्रक्रिया स्वीकारती है, अर्थात् सृष्टि का संपूर्ण विनाश नहीं होता। सृजन और प्रलय साथ-साथ चलते हैं। हमारे इस सिद्धांत का प्रभाव भारतीय संगीत पर

स्पष्ट पड़ता है। क्योंकि एक सप्तक के पश्चात् पुनः उन्हीं स्वरों की पुनरावृत्ति मात्र अन्य सप्तक में मानी गयी है। हमारे संगीत शास्त्र की हर पद्धति के अनुशरणकर्ताओं ने इसे माना है। प्रमाण रूप में हम भरत, मतंग, शारंगदेव, नान्यदेव, अभिनवगुप्त के उदाहरण दे सकते हैं। मुनि भरत सात स्वरों की व्याप्ति का आधार मूर्च्छना को कहते हैं लेकिन अलंकार प्रकरण में मन्द्र तार आदि अलंकारों में आठ स्वरों का प्रस्तार होना चाहिए ऐसा कहते हैं। अर्थात् रागाभिव्यक्ति हेतु 'सा' से आरंभ करके 'सा' में समाप्ति की जानी चाहिए। मतंग तथा शारंगदेव अपनी-अपनी रचनाओं में इन्हें उदाहरण सहित प्रस्तुत करते हैं। इस संबंध में नान्यदेव का कथन है-

“येनैव स्वरेण तूच्छायो गीतानामुद् ग्राहः प्रवर्तते,  
तेनैव स्वरेण यदापोह समाप्तिरेपि भवति,  
तदा 'सा रि ग म प ध नि सा' इति स्वरसन्निवेशेसति  
.....एता षड्जग्रामिकाः सप्त मूर्च्छना जायते।”

इसी तरह स्वर निर्देश देते समय सप्तक की उपयोगिता का उल्लेख करते हुए भी प्रयोगात्मक स्वरूप को दिखाते समय 'सा रे ग म' 'प ध नि सा' का उल्लेख करते हुए अभिनव गुप्त कहते हैं-

प्रकृतिभूतपूर्व रूप स्पर्शश्वत्कारेः स रि ग माः,  
तथैव स्थाने उर्ध्वस्पर्शे प ध नि साः केवल  
षड्जेन द्वितीयं स्थानं स्पृश्यन्ते एव।

वस्तुतः यह सही है कि भारत में संगीत का विकास धर्मनिरपेक्ष मनोविनोद के एक साधन रूप में हुआ है। संगीत मानव के स्वस्थ मनोरंजन का साधन है, यही हमारी संस्कृति के अनुरूप हमारी मान्यता है। हमारा पक्ष स्पष्ट है कि संस्कृति शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का संवहन करती है। इस दृष्टिकोण से हमारी संस्कृति का संबंध धर्म, दर्शन, कानून, व्यवस्था, साहित्य, कला विशेषतः कला से निश्चितरूपेण हो जाता है। फिर भी संगीत को धर्म की मूल उक्ति माना जाता है। इसका उदाहरण हम विश्व में प्रचलित अधिकांश धर्मों में देख सकते हैं। धर्म रूप में संगीत स्वयं दर्शनशास्त्र से संबद्ध है। कारण वही कहा जा सकता है कि सांगीतिक स्वर नाद अथवा ब्रह्म की वास्तविक

अभिव्यक्ति करते हैं। इसके द्वारा धार्मिक आराधना की जाती है। यज्ञ रूप में संगीत स्वयं धार्मिक पूजा है। मानव शरीर में ईश्वरीय ज्योति, परम सुख और आनंद से परिपूर्ण निस्तब्धता का कोश है। योगी जन योगाभ्यास के द्वारा उन दैवी कुण्डलियों के ज्ञान से मोक्ष तथा जीवनोद्धार प्राप्त करते हैं। जब मस्तिष्क और बुद्धि नवीन रचना के लिए एक हो जाते हैं तभी अनाहत नाद की उत्पत्ति होती है।<sup>8</sup> महर्षि पातंजलि अपने योगशास्त्र में इसकी चर्चा करते हैं। संगीत तथा सांगीतिक आविष्कारों की समस्त रचनाएं अनाहत नाद पर आधारित है। इस तरह संगीत को आधार दर्शनशास्त्र देता है।

सभी तरह की सांगीतिक रचनाएं मानव निर्मित है। सांगीतिक इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि इसकी सभी विधाओं में चाहे वह लोक संगीत की हो या शास्त्रीय, पूर्वी अथवा पश्चिमी, दोनों के संकल्पनागत एवं श्रवणीय तत्वों में जितना योगदान संगीतज्ञों का है, उतना ही दार्शनिकों का भी है।

महान संत, कवि तथा बहुमुखी संगीतकार स्वामी रविदास ने संगीत के माध्यम से तत्कालीन भारत की सामाजिक सांस्कृतिक और धार्मिक दशा सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अमीर खुसरो भारतीय तथा टर्की संगीत के सम्मिलन का पहल करते हैं तो संगीत सम्राट तानसेन इसे पूर्ण करने के लिए हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृति के समन्वय का प्रयास करते हैं। पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर राष्ट्रवादी संगीतज्ञ के रूप में महत्वपूर्ण राष्ट्रगीतों की धुन तैयार करते हैं। इन तथ्यों के सहारे हम स्पष्ट करना चाहते हैं कि आज शास्त्रीय संगीत भारत में अपना महत्व खो रहा है और आम लोग इसकी ओर से उदासीन है तो इसके दोष दूढ़ने के बदले प्रभावी उपयोग की खोज हमें करनी है क्योंकि संगीत ही एक ऐसा विषय है जिसके व्याकरण को न समझनेवाला भी इसका आनंद भरपूर ले पाता है। श्रोता को आनंद दिलाने के लिए संगीतज्ञ का कठिन अभ्यास करते रहना एक आवश्यक बात है। इस वजह से हम इस प्रदर्शन कला को कर विद्या कहते हैं जिसे कराने के लिए समर्थ गुरु की खोज, गुरु सानिध्य गुरु का आशीर्वाद बड़े महत्व की बात है।

ऋग्वेद में कहा गया है<sup>9</sup> कि वाक् का सर्वोपरि छोर ब्रह्म में है जिससे समुद्र का निर्माण हुआ। अंतरिक्ष वाक् से ही संसार को चैतन्य करता है। सृष्टि का गुदातिगूढ़ रहस्य वाक् तत्व में निहित है। अग्नि और जल के संयोग से वाष्प बनता है। वाष्प के निकास की व्यवस्था वाक् तत्व से होती है। यही वाक् तत्व नाद रूप में प्रतिष्ठित होता है। संगीत का मूल आधार प्राण तत्व है जो सृष्टि को स्पंदन देता है। स्पंदन यदि मुखरित नहीं होगा तो व्यर्थ हो जाएगा। इस तरह प्राण तत्व को जीवंत तथा माधुर्य प्रदान करने का श्रेय वाक् तत्व को मिलता है। हमने पूर्व में देखा है कि संगीत किस तरह संप्रेषण का सटीक माध्यम है, फिर भी अपनी सांगीतिक प्रस्तुति को अधिक संप्रेषणीय बनाने के लिए कोई गायक गीत का प्रयोग करता है। अर्थात् गायन भाषा की सहायता लेता है। लेकिन संगीत के इतिहास में कई उदाहरण हमें ऐसे भी मिलते हैं जहां भाषा रहित स्वर-संगीत जैसे कार्यों को अत्यल्प समय में कर डालता है जिसे भाषा के माध्यम से संपन्न करने में कई वर्ष लगने की संभावना थी। जैसे श्रीकृष्ण की बांसुरी के धुन पर सोलह हजार गोपियां मध्यरात्रि में जमुना तट पर एकत्र होकर महारस संपन्न कर चुकी है। इस तरह के अन्य उदाहरणों के अवलोकन से हमारे समक्ष यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि पिंगल शास्त्र से व्यवस्थित की गई भाषा से जो काव्य उत्पन्न होता है वह संगीत के बिना वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर पाता।

यही हम आज के विश्वविश्रुत संगीतज्ञों में मूर्धन्य गायक, संगीत मार्तण्ड पं. जसराज का नाम लेना चाहते हैं जिनके श्रीचरणों में संगीत के मधुर रसों का ज्ञान, हम कर पाये हैं। प्रदर्शन और शास्त्र की जैसी भी रश्मियां हमारे अंदर आ पायी है उनकी कृपा से ही। विद्वत् जन संगीत, दर्शन और साहित्य को हमारी सभ्यता-संस्कृति का दर्पण मानते हैं तो इन्हें जितना ही मंजा जायेगा उतनी ही स्पष्ट हमारे सांस्कृतिक अस्मिता की पहचान होगी। हमारी समझ से इन विवेचनों से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भारतीय संगीत का भारतीय दर्शन से अविभाज्य संबंध रहा है। भारतीय संगीत के लक्षण ग्रंथ मुनि

भरत के नाट्यशास्त्र पर दार्शनिक सिद्धांतों के अनुसार कई टीकाएं लिखी गईं। अभिनव गुप्त की टीका अभिनव भारती में वर्णित व्याख्याकारों में व्याकरणाचार्य, समाजशास्त्री के साथ ही कई उद्भट दार्शनिक के नाम मिलते हैं। न केवल वैदिक, मध्य तथा आधुनिक काल में संगीत का धर्म और दर्शन से संबंध रहा है। बल्कि वर्तमान समय में ही हमारे समसामयिक चिंतक कला संबंधी समस्याओं का समाधान दार्शनिक दृष्टिकोण से कर रहे हैं। यहां का संगीत भक्ति की भावभूमि पर आधारित है।

निष्कर्ष यही है कि हमारे देश में संगीत एवं दर्शन की जब-जब परस्पर अन्योन्य क्रिया-प्रतिक्रिया हुई है। हमारी संस्कृति संवर्धित होकर पर्याप्त प्रसारित हुई है। संगीत ने हमारे सांस्कृतिक जीवन में अपनी भूमिका प्रारंभ से आज तक बरकरार रखी है। आज भी संगीत अपने प्रयोग से राष्ट्र के आम सांस्कृतिक

स्तर को उन्नत करके समस्वरता दे सकता है और हमारी धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं से निबटने का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

### संदर्भ सूची :

1. प्रसिद्ध दार्शनिक-अरस्तु
2. राष्ट्रपिता महात्मा गांधी
3. हिन्दी विश्वकोश
4. Bebar Max. The Religion of India
5. दीदी योगिनी लाल (लल्ला योगेश्वरी), कश्मीरी शैव दर्शन
6. नान्यदेव, भरत भाष्य
7. गुप्त अभिनव (टीका), अभिनव भारती
8. महर्षि पातंजलि, योगशास्त्र
9. ऋग्वेद

## लुप्तप्राय उत्तर भारतीय प्राचीन ताल वाद्य

डॉ. गौरांग भावसार

संगीत का उद्गम एवं विकास सदा संस्कृति पर ही आधारित रहा है। हमारा संगीत मानव उत्पत्ति काल से ही जन जीवन से जुड़ा रहा है। हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ ही हमारा संगीत भी विकसित होता रहा है। जिसका प्रमाणित रूप है, समयानुसार बदलते संगीत वाद्य, नृत्य प्रकार एवं गीत-संगीत की शैली। हमारे संगीत का इतिहास भी भारतीय इतिहास में निहित है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधारित, संगीत का प्रचलन हवन, यज्ञादि, उत्सवों आदि के साथ सांस्कृतिक एवं धार्मिक सद्भावना के साथ जुड़ा हुआ है।

संगीत चाहे कोई भी हो, लेकिन वाद्यों के बिना अपूर्ण है, इसलिए वाद्य भी संगीत का मुख्य अंग है और इसकी महिमा भी अलग है। याज्ञवल्क्य का कहना है कि जो श्रुति तथा शास्त्र प्रमाण को जानने वाला है, वीणा-वादन में संलग्न तथा ताल को जाननेवाला है, उसे मोक्ष की अनायास ही प्राप्ति हो जाती है। संगीत और वाद्य हमारे जीवन को सीधे अनुप्रमाणित करते हैं। यह मन, प्राण, हृदय को आह्लादित कर लेते हैं।

प्रत्येक आज....., कल के गर्भ से उत्पन्न हुआ है। यदि हमें आज को समझना है तो कल का साम्यक अध्ययन करना होगा। यही बात भारतीय संगीत के संदर्भ में चरितार्थ होती है। इतिहासविद् जानते हैं कि लगभग एक सहस्र वर्षों तक भारत में विदेशी शासन रहा, जिसके फलस्वरूप भारतीय संस्कृति अन्यान्य संस्कृतियों के संपर्क में आई। इस समिश्रण से कतिपय क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति का स्वरूप भी बदला। फलस्वरूप भारतीय संगीत-वाद्य-

नृत्य में भी बदलाव आया। किन्तु प्राचीन भारतीय वाद्य-वादन परंपरा परंपरागत रूप में रही, हां नये वाद्यों का भारतीय संगीत में प्रवेश हुआ। यह एक बदलती परिस्थितियों के स्वरूप है। साथ में एक बात माननी होगी कि विकसित समाज में भले ही बदलाव आया किन्तु वनों में रहने वाली विभिन्न जनजातियों में पारंपरिक वाद्यों का ही चलन रहा क्योंकि....

आदिवासी समाज सदा से बंधन-मुक्त रहने का अभ्यासी रहा है। वन ही उसका जीवन है। इसलिए वह सदा वन की ओर भागता है। जैसे-जैसे वन कटते गए, उद्योग-धन्धे स्थापित होते गए, जैसे-जैसे आदिवासी पलायित, विस्थापित होता गया। किन्तु उसका संगीत उससे पृथक नहीं हो सका। अब लगता है कि ये पारंपरिक वाद्य भी उसका साथ छोड़ देंगे। यह लुप्त हो रहे हैं। कुछ आदिवासी जातियां भी लुप्त हो रही हैं। पर इस ओर किसी का ध्यान नहीं है। किन्तु कहना उचित होगा कि सभ्य समाज परिस्थितियों के साथ एवं शहरीकरण में अपनी संस्कृति, संस्कारों, संगीत में बदलाव को बर्दाश्त करके प्रवाहित हो जाता है। किन्तु गांव एवं आदि-जनजाति के लोग अपनी संस्कृति, संस्कारों, उत्सवों, वाद्यों को परंपरागत रूप में ही देखना पसंद करते हैं। आज शहरों आधुनिकता की ओर अग्रसर है। लेकिन गांव में संस्कृति अभी भी जिन्दा है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज हमारे जो भी वाद्य बचे हैं वो गांव की परंपरावादी संस्कृति के कारण बचे हैं।

यहां पर प्राचीन परंपरा के लुप्त प्रायः वाद्यों के बारे में कहना चाहता हूं, वैसे तो कई प्राचीन वाद्य लुप्त हो गए हैं। आज उनका अंश भी मिलता नहीं है किन्तु यहां पर जो वाद्य आज लुप्त होने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। वे कुछ वाद्यों के बारे में चर्चा करना चाहता हूं। यह एक प्रयास है, लेकिन आज सोचने की आवश्यकता है कि हम कितने वाद्यों एवं वादन शैली को बचा पाते हैं।

### घड़ा :

यह मिट्टी या धातु से निर्मित पात्र है। इसे उत्तर भारत में 'घड़ा', राजस्थान में 'मटकी', कश्मीर में 'नूठ', गुजरात में 'माणभट्ट या घड़ा', दक्षिण में 'घटम्' कहते हैं। दाहिने हाथ की अंगुलियों के नाखूनों से अथवा चुटकी में छल्ला आदि किसी कड़ी वस्तु को पकड़कर इसे बजाते हैं। उत्तर भारत के विभिन्न राज्यों के लोक सांस्कृतिक उत्सवों पर, कथाकार कथा कहते-कहते इस वाद्य का उपयोग करते हैं। आज इस वाद्य का नाम शेष हो रहा है। उत्तर भारत में बहुत ही कम कलाकार इस वाद्य का उपयोग करते हैं। इस वाद्य को उपयोग घटम् के रूप में दक्षिण भारत में प्रचलित है।

### तिकरा :

प्राचीन समय में मिट्टी से तत्पश्चात उसे धातु के दो पात्रों पर चमड़े से मढ़कर बनाया जाता है। एक पात्र का स्वर नीचा तथा दूसरे का स्वर उंचा रखते हैं। नीचे स्वर वाला पात्र पर धुली स्याही का मसाला लगाते हैं। गुजरात में इस वाद्य को 'डांगला' कहते हैं। उत्सवों तथा सामूहिक नृत्य-गीतों में इसका वादन होता है। किन्तु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस वाद्य का प्रचार होने पर भी इस वाद्य का वादन नहीं होता और इस वाद्य को बजाने वाले वादकों की संख्या भी दिन-प्रतिदिन कम हो रही है। यह वाद्य लुप्तप्रायः होने की कगार पर है।

### ताशा :

यह धातु अथवा मिट्टी से निर्मित चपटे, चौड़े कटोरे जैसा होता है। जिसके उपर बकरे की खाल मढ़ी रहती है। जिसे, चमड़े की पट्टियों से कसा जाता

है। गले में लटकाकर बांस या बेंतों की दो पतली कमचियों से बजाया जाता है। उत्तर भारत का यह वाद्य है। ब्याह-शादियां, उत्सवों, मोहर्रम पर इस वाद्य को बजाया जाता है। किन्तु आज-कल उत्सवों शादी आदि पर पारंपरिक वाद्यों की जगह पर इलेक्ट्रॉनिक्स उपकरणों का प्रभाव देखने को मिलता है। इसी कारण से यह वाद्य बहुत ही कम बजता है। और वादकों की संख्या भी कम होने लगी है। यह चिंता का विषय है। यह वाद्य भी मेरी दृष्टि से लुप्त होने की कगार पर है।

### दुक्कड़ :

शहनाई के साथ बजनेवाला प्रमुख वाद्य है। दो भागों में बंटा हुआ यह वाद्य मिट्टी या धातु से निर्मित है। दाएं भाग पर पतली तथा बाएं भाग पर मोटी खाल को चर्मडोरी की सहायता से मढ़ दी जाती है। इस वाद्य पर किसी प्रकार की स्याही या मसाला नहीं लगाया जाता है। यह वाद्य भी ताशा की तरह लोकप्रिय होने के साथ-साथ लुप्त हो रहा है। बाद की पीढ़ी के लिए यह वाद्य सिर्फ संग्रहालय की शोभा बन जाएगी ऐसा मेरा मानना है।

### हुड़क :

इसे हुड़की भी कहते हैं। इसका आकार डमरू से कुछ बड़ा तथा शकल डमरू जैसी ही होती है। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी जिलों कुमायूँ, गढ़वाल आदि के लोकगीतों में इसका प्रयोग होता है। किन्तु सभ्य समाज के सामने यह वाद्य बहुत ही कम आता है। यह जरूरत है कि इस वाद्य से आम जनता को परिचय कराया जाए। अगर ऐसा नहीं होता है तो यह वाद्य भी लुप्त होने में देर नहीं लगेगी।

### निशान :

निशान का दूसरा नाम सिंघाड़ा है। यह वाद्य युद्ध में विरता, उत्साह का संचार करने वाला वाद्य है।

यह वाद्य लोहे का बार्या के आकार का है। इसके मुख पर चर्म मढ़ा जाता है। मुहकुंडें पर चारों ओर मोर का पंख जड़ा होता है। जिसे गेंदा कहते हैं। निशान को छोटी लकड़ी या चमटे से बजाया

जाता है। इस वाद्य को बजाते बजाते कलाकार नृत्य भी करता है। यह वाद्य घसिया और घरकार जनजाति का वाद्य है।

### डुग्गी :

डुग्गी पीटना, डुग्गी पिटवाना अब मुहावरा बन गया है। पहले मुनादी इसी से करवाई जाती थी तथा इसी वाद्य से शिकार के लिए हुंक्वा भी किया जाता था इसे डुगडुगिया भी कहा जाता है। डुग्गी पक्की मिट्टी से बनाया जाता है। यह आधी सूरही के आकार का होता है। जिसके मुंहकुडें को बकरा के चमड़े से तबले की तरह मढ़ा जाता है। इसे बांस तथा लकड़ी की सराई से ताल के साथ बजाया जाता है। यह वाद्य भी आदिवासी जनजाति का वाद्य है। यह भी लुप्त हो चुका है।

### सम्बल :

यह वाद्य जैसे तो महाराष्ट्र का प्रचलित वाद्य है। सम्बल तबला वाद्य के समान दो भागों में होता है। जो उपर से चौड़ा तथा नीचे से पतला होता है। उपर के मुख पर चमड़ा मढ़ा जाता है। जिसे सुतली से कसा जाता है। इनका वादन शंकु के समान दो डंडियों से होता है। इस वाद्य को कीर्तन, लोक उत्सव एवं मंदिरों में बजाया जाता है। महाराष्ट्र में इस वाद्य की परंपरा कुछ हद तक ठीक चल रही है। इस वाद्य को शास्त्रीय तौर पर भी बजाया जाता था। इस वाद्य पर तबला के जैसी ही वादन बंदिशें स्वतंत्र वादन में बजाई जाती है।

इस वाद्य के लिए भी उदासीनता देखने को मिलती है। आज शास्त्रीय रीति से बजाने वाले बहुत कम हैं। अगर इस वाद्य की परंपरा की ओर लक्ष्य नहीं दिया गया तो वाद्य तो रहेगा पर उसकी वादन परंपरा समाप्त हो जाएगी और कालक्रम में यह वाद्य भी संग्रहालयों तक सीमित हो जाएगा। यह चिंता का विषय है।

### डेरू :

यह डमरू आकार का वाद्य है। जैसे डमरू वाद्य में चर्म लगाया जाता है। दोनों मुंह के चर्म के गजरे से सुत की डोरी पिरोई जाती है। इस डोरी को उपर से

दबाया जाता है और मुख पर शंकु से आघात किया जाता है। डमरू और डेरू वाद्य एक समान हैं। किन्तु उनकी ध्वनि अलग-अलग है। इस वाद्य का प्रयोग धार्मिक विधि-विधान में होता है। आदिवासी लोक नृत्य एवं गीतों के साथ यह वाद्य बजाया जाता है। इस वाद्य की ध्वनि अत्यंत मनमोहक है। यह वाद्य वर्तमान समय में बहुत ही कम देखने को मिलता है। इस वाद्य को बजाना भी मुश्किल है। उसकी वादन पद्धति कठिन है। सही तरीके से डोरी को दबाना और साथ में आघात करना अपने आप में एक पद्धति है। यह वाद्य ज्यादातर मदारी एवं बंजारा जाति के लोग बजाते हैं। गुजरात में इस वाद्य को 'डाकला' कहा जाता है। यह वाद्य भी लुप्त हो रहा है।

### नक्कारा :

यह वाद्य दो भागों में बंटा हुआ वाद्य है। इस वाद्य में दायां भाग में पतला और बायां भाग में जाड़ा वाला चर्म लगाया जाता है। यह एक प्रकार का छोटा नगाड़ा जैसा वाद्य है। नीचे से बंध एवं मुख पर चर्म मढ़ा जाता है। जैसे तबला वाद्य में कायदा, पलटा, टुकड़ा, परन, चक्रदार जैसी बंदिशें बजाते हैं। जैसे ही नक्कारा में बंदिशें बजाई जाती हैं। लकड़ी के शंकु और पतले डंडे से इस वाद्य बजाया जाता है। उ. हबीबउद्दीन खां साहब इस वाद्य पर तबला का बाज बजाया करते थे जैसे भारत में कई नक्कारा वादक थे पर आज बहुत ही कम वादक बचे हैं। इस वाद्य का प्रयोग उत्सव, मोहर्रम आदि में होता है। आज यह वाद्य भी लुप्त प्रायः हो रहा है।

### तुणतुना :

यह लोक संगीत का तत श्रेणी का लय वाद्य है। इस वाद्य को तुण-तुणे, टुनटुना भी कहते हैं। तुणतुना के नीचे का भाग लकड़ी का बना हुआ तथा अंदर से खोखला होता है। उस खोखले भाग के नीचे चमड़े की झिल्ली मढ़ी रहती है। जिसमें बाहर की ओर से बटन में तार फंसाकर भीतर की ओर निकाल लिया जाता है। इस काठ के बाहरी भाग में एक बांस का डंडा लगा रहता है। सिर पर तार बांधने के लिए खूंटी होती है। एक स्वर में मिलाकर बजाया जाता

है। यह लय प्रधान वाद्य है। यह वाद्य भी लुप्त हो रहा है।

वैसे कई वाद्य हमारे लुप्त हो रहे हैं। यहां पर कुछ वाद्यों के बारे में ही चर्चा की गई है, और आज-कल वाद्यों में चमड़े की जगह प्लास्टिक की पुडी लगाई जाती है। उससे वाद्य का मूल ध्वनि का एहसास नहीं होता है। इस विषयों पर भी विचार करना जरूरी बन गया है। वाद्य लुप्तप्राय हो रहे हैं साथ में उनकी बनावट में भी अंतर आ रहा है। यह चिंता का विषय हैं हमारी आनेवाली पीढ़ी को उस पर विचार करना अब आवश्यक हो गया है।

### संदर्भ सूची :

1. संगीत मासिक पत्रिका अंक-1970, 1993, 1996, 1997
2. संगीत कला विहार पत्रिका
3. मिश्रा (डॉ.) लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य
4. श्रीवास्तव गिरिशचन्द्र, तालकोश
5. सेन (डॉ.) अरुणकुमार, भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन
6. वाद्य-वादन अंक - संगीत कार्यालय प्रकाशन
8. परांजपे (डॉ.) श्रीधर शरतचन्द्र, भारतीय संगीत का इतिहास

# भारतीय लोरियों में भाव-साम्य : एक अनुशीलन

डॉ. दीपेन्द्र सिंह जाड़ेज

गुजरात के प्रसिद्ध कवि 'नरसिंह मेहता' की एक प्रसिद्ध पंक्ति है "नामरूप जूजवां, अंते तो हेमनु हेम होय" अर्थात् नाम तो अनेक हैं किन्तु ईश्वर एक हैं इसी प्रकार लोरियों की भाषा अलग हो सकती है, किन्तु मातृ हृदय तो एक ही भाव का अनुभव करता है। घोंसले में अपने नये बच्चों के साथ बैठी मोरनी, हूंद मारते बछड़े को जीभ से चाटती गाय या खेलते हुए अपने बच्चों को निहारती हुई शेरनी के हृदय में जिस प्रकार का स्नेह स्फुरित होता है, ऐसा ही स्नेह बालक को अपनी गोद में सुलाकर धीरे-धीरे थपकियां देती हुई माता के हृदय में भी होता है। उस समय माताओं के मुख से जो शब्द निकलते हैं वह एक कार की मौनवाणी है। उसके भावों में कोई अंतर नहीं होता। भाषा के द्वारा प्रकट होते शब्द बदल जाते हैं। जैसे एक ही नदी की अनेक धाराएं होकर वह बहती है। इस प्रकार भारतवर्ष की लोरियों में प्रत्येक प्रान्त के परंपरानुगत संस्कार और रीति-नीति का जो रूप मिलता है उसमें भी भाव को लेकर कोई विशेष अंतर नहीं दिखता है।

लोरी में छिपे शब्द के कण-कण में मां की अभिव्यक्ति है और मां की ममता विश्व के सभी कोनो में समान है। इसीलिए गुजराती हो, हिन्दी हो या योरोपीय लोरियां, मां का कंठ एक ही भाव को बहाता है। शब्द अलग हो सकते हैं, किन्तु सुर और भाव एक ही-

गुजराती में- *हाला.....वाला।*

*हां .....हालां।*

*ओलोलोलो...हां...हालां।*

*ओलोलोलो....हाल्य हातूडां हाल्य।*

उसके समान योरोपीय सुर :

अंग्रेजी : *Balow, la-low,*

*Lulla la, lulla, lulla, lullaby!*

सब में एक ही सुर एक ही ध्वनि क्योंकि मातृत्व एक ही है, जाति एवं प्रदेश के भेद से वे भिन्न हैं। बालक भी भेदरहित हैं ईश्वर की निर्दोष कृति निर्दोष कृति बालक ही है। उसका पालन-पोषण जगत का सबसे पुण्य कार्य है, जो मां के वात्सल्य एवम् ममता के द्वारा ही संभव है। पालना साधन और उसके गीत (लोरी) साध्य हैं।

मराठी में लोरी के लिए 'पालना' शब्द मिलता है उसी प्रकार गुजरात के डांग जिले में भी लोरी के लिए 'पालना' शब्द का प्रयोग होता है। मराठी में एक बहु प्रचलित पालना गीत की मुख्य पंक्ति है-

मराठी : *निज निज बाला रे,*

*झोके देते मी तुला.....<sup>2</sup>*

इसी भाव को लेकर गुजरात के डांग जिले में आदिवासियों में प्रचलित एक लोरी मिलती है-

गुजराती (डांगी) : *नादानु बाला ला*

*निजरा येती बालाला*

*निजरा येतील...अ...*

*सोनेरी पालना, रेशमी व*

*पालना टांगा, बालाला,*

*पालना टांगा... आ...*

*झोकाय देतील, नादानु*

*बालाला,*

*झोकाय देतील,*

*नादानु बालाला...आ...*

मराठी की एक और लोरी जो शब्दसः गुजराती से मेल खाती है-

मराठी :

रडु -को रडु नको,  
माझा बाला रडु नको,  
हसुन हसुन झोप  
गाउन गाउन झोप  
झोप झोप माझा बाला,  
झोप झोप मधुगोड बाला ।

गुजराती :

रडमा, रडमा बालुडा, रडमा,  
हसतो हसतो सूई जा,  
गातो गातो सूई जा,  
सूई जा बेटा, सूई जा,  
मारा मधमीठा बाल, सूई जा ।'

इसमें मराठी मां गीत है- रो मत रो मत, मेरे प्रिय शिशु रो मत । हंसते-हंसते सो जा । गाते-गाते सो जा । हे मेरे शहद से मीठे बच्चे । सो जा ।

इससे मिलती-जुलती एक और लोरी गुजराती में प्रसिद्ध है, जिसमें शब्द अलग है, भाव उपर्युक्त लोरी जैसा ही है ।

गुजराती :

नींदरडी तू आवे जो आवे जो  
मारा बच्चु सारू लावे जो लावे जो,  
तू बदाम मिसरी लावे जो,  
तू खारेक टोपरू लावे जो ।'

मां गीत गाती है- आ, हे नींद आ, हमारे बच्चे के लिए ला । तू मिसरी और छुहारे ले आ ।

नींद को ही आमंत्रण देती हुई भोजपुरी एवं गुजराती लोरी का उदाहरण देखिए । चन्दा चिर परिचित बाल खिलौना है । अब क्रियाशील बालक उसके साथ खेलना चाहता है । मामा के पुराने रिश्ते से वह आशान्वित है कि मामा अपना सब कुछ छोड़कर उसी के साथ खेलने दौड़ा आयेगा ।

भोजपुरी :

चन्दा मामा, आरे आव, पारे आव  
नदियां के किनारे आव  
चन्दनियां लेते आव

गुजराती :

चंदा मामा आवो, पेले पार आवो,  
नदी किनारे आवो,  
चांदनीने पण लेता आवो."

अवधी में भी इसी प्रकार की लोरी मिलती है-  
अवधी :

चंदा मामा आरे आवा,  
पारे आवा, नदिया किनारे आवा  
फूलड़ां लईने आवो,  
पीलां पीलां फूल सारा,  
मारा बचुभाईने आपो'

आन्ध्र प्रदेश की मां तथा गुजरात की मां रात अपने शिशु को चन्द्रमा दिखलाकर यह लोरी गाती है । हे चंदामामा, तुम आओ । गाड़ी (रथ) पर चढ़कर आओ । फूल लेकर आओ । पीले-पीले फूल । उन्हें बच्चों को देख कर चले आओ । चन्द्र को मामा कहकर उसे अपने परिवार का सानिध्य प्राप्त करना, प्रकृति के प्रति आदर का भाव अर्पित करना, उसे बच्चे को दिखलाकर चन्द्रमा की शीतल स्निग्ध किरणों द्वारा प्रकृति के प्रति प्रेम शिशु के मन में उत्पन्न करना, युगों-युगों से चला आ रहा है । आदिम युग में मानव ने अवश्य ही चन्द्रमा को देखकर अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति ली होगी, और शिशु भी उसे आसमान में ज्योतित देखकर फूले नहीं समाते !

मलयालम में माता अपने बच्चे को संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं का समूह समझती है-

मलयालम : ओ मनति कल किटा औ,  
नल्ल कोमलताम रैप्युनी ।<sup>10</sup>

अर्थात् मेरा बेटा चांद का टुकड़ा है । गुजराती लोरी का भाव देखिए-

गुजराती :

एक हतो सुहागी गगन चांदलो रे लोल  
बीजो सुहागी मारो वीर जो,  
हां ... ला....हां....ला ।<sup>11</sup>

गुजराती एवं पंजाबी लोरियों में भी साम्यता नजर आती है । प्रस्तुत लोरियों में लय-प्राप्त तथा सुर सब में एक प्रकार की साम्यता के दर्शन होते हैं-

पंजाबी :

खडखीर मीठ्ठीअ,  
बीर बहुरी डिठ्ठीअे डिठ्ठीअे  
चौला नालों चिठ्ठीअे चिठ्ठीअे  
जलेबी नालों मीठ्ठीअे मीठ्ठीअे

गुजराती :

खांड खीर मीठ्ठी छे, मीठ्ठी छे,  
भाभीने में दीठी छे, दीठी छे  
चोखा करतां धोली छे, धोली छे,  
जलेबी करतां मीठी छे, मीठी छे ।<sup>12</sup>

अन्य लोरी में मां बच्चे को खिचड़ी बनाकर खिलाने की बात करती है-

पंजाबी : बे वीरा ईक्कडी  
तेनु रिन्ह सुयामा खिचड़ी

गुजराती : भाई मारो छे अटारो  
घी ने खिचड़ी रे चटाडो ।<sup>13</sup>

इसके अतिरिक्त जिन प्रदेशों से गुजराती लोरी का भाव साम्य अत्यंत निकट का है, वे हैं-राजस्थान तथा मालवा आदि। गुजरात तथा राजस्थान के संबंध बहुत प्राचीन काल से रहे हैं। सभी प्रकार के क्षेत्रों में इन संबंधों का विकास देखा जा सकता है। वे साहित्यिक हों, सामाजिक हों, सांस्कृतिक तथा पारिवारिक हों, सभी प्रकार के संबंधों का गाढ़ा बंधन हमें देखने को मिलता है।

मारवाड़ी :

हालां हालां करतां तां,  
संतोकरा मामा रमतां तां,  
रमतते खेलते बाजरी वाई,  
बाजरीरा खेत में डेलडी वियाई,  
डेलडीरा बचीयां रातां रे भाई,  
संतोकरा मामा माता रे भाई!

गुजराती :

हाल्य वाल्य ने हेल्त्य  
वगडे वसती रे डेल्य  
डेल्यना पगलां रे रातां,  
भाइना काका मामा छे मातां ।<sup>14</sup>

उपर्युक्त लोरी में बाजरे का खेत, मोरनी का बच्चा देना, उसका रंग श्याम है - यहां तक शब्द

और ताल की तरंग है, बाकी सबकुछ अर्थात् अस्पष्ट है।

पश्चिमी राजस्थान (मेवाड़) में लोरी गीत को हालरा से जाना जाता है। इन्हें 'हालरिया' भी कहा है। गुजराती में भी इसके लिए प्रचलित शब्द 'हालर' तथा 'हालरडा' ही है। हालर हूलर अर्थात् धीरे-धीरे झूला देने की क्रिया। रोते हुए बच्चे को मुसकान दिलाने के लिए 'हालर हूलर हांसी' पंक्ति को जो प्यार भरे स्नेहिल ढंग-रंग से उच्चरित की जाती है।

राजस्थानी :

हालर हूलर हांसी रो  
दूध पीवे थारी मासी रो  
लाल चूडे थारी भुवा रो  
हुई जा रे, नान्या हुई जा.....

गुजराती :

हाल्य वाल्य ने हांसीनो,  
रातो चूडो भाईनी मासीनो,  
माशी म्यां छे मालवे,  
भाईना पगलां रे जालवे ।<sup>15</sup>

मां के बाद मासी (मौसी) ही बच्चे की मुख्य पालक होती है। इसीलिए मासी को लाल चूडे वाली अर्थात् सौभाग्यवती कहा गया है। लाल रंग सौभाग्य का सूचक है। लाल चूड़ा, लाल बिंदी, लाल पोशाक सौभाग्यवती नारी का श्रृंगार है। जैसे मासी बच्चे की माता की बहिन होती है वैसे ही बुआ बच्चे के पिता की बहिन को कहते हैं। यह रिश्ता रक्त-संबंध का भी परिचायक है।

अन्य भाषाओं की लोरियों की अपनी-अपनी विशेषताएं होती हैं। उसमें स्वभाषा का माधुर्य एवं प्रादेशिक शब्द सौन्दर्य भी समाया होता है। उसके अपने लय की मधुरता भी होती है। अतः भाव साम्यता की दृष्टि से बहुत कुछ समान मिलता है। किन्तु अगर उसका अनुवाद करने का प्रयास करें तो वह भाव-सौन्दर्य निर्मूल सा हो जाता है। जैसे एक परिकथा के अनुसार 'अनिघ रूपसुंदरी समान फूलपरी को राजकुमार स्पर्श करे वहीं रूपसुंदरी राख का ढेर बन जाए।' इसी प्रकार से लोरियों का भी कुछ ऐसा ही है। उसका अनुवाद संभव नहीं।

संदर्भ सूची :

1. सं. मेघाणी झवेरचंद, हालरडां भूमिका से, पृ.-6
2. पवार डॉ. पुंडरिक, डांगी लोकगीतो - पृ. 100
3. पवार डॉ. पुंडरिक, डांगी लोकगीतो - पृ. 102
4. लोकगुर्जरी अंक-5, वर्ष 1969, पृ. 26 प्रकाशक-गुजरात लोक साहित्य समिति।
5. सं. मेघाणी झवेरचंद, हालरडां- भूमिका से, पृ.-12
6. सत्यार्थी देवेन्द्र, बेता फूले आधी रात- पृ. 404
7. वही, पृ. 405
8. वही, पृ. 405
9. लोकगुर्जरी अंक-5, वर्ष 1969, पृ. 26 प्रकाशक-गुजरात लोक साहित्य समिति।
10. लाल तेजनारायण, मैथिली लोकगीतों का अध्ययन, पृ. 144
11. लेखक की माताजी एवं दुर्गा भजन मंडल, राजपीपला से प्राप्त लोरियां।
12. सत्यार्थी देवेन्द्र, बेता फूले आधी रात-पृ. 404
13. वही, पृ. 404
14. लूर (लोरी विशेषांक), अंक-5, वर्ष 2005, जोधपुर राजस्थान, पृ. 138 तथा पाठक रमेश, आपणां हालरडां पृ. 59
15. वही, पृ. 100, तथा सं. मेघाणी झवेरचंद, होलरडां-पृ. 16

गीतम् - स्वरालंकार के अभ्यास के बाद गीतम् गाते हैं, यहां से सरल धुन प्रारम्भ होती है इसमें स्वरों के साथ साहित्य का प्रयोग होता है। सरल रूप में से साहित्य का प्रयोग करने का तरीका गीतम् में सिखाया जाता है। एक प्रकार से इसमें अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है। गीतम् में स्वर एवं साहित्य का सम्मिलित रूप होता है। अभ्यास गानम में साहित्य का सर्वप्रथम प्रयोग गीतम् में होता है। गीतम के दो प्रकार होते हैं-

1. लक्ष्य या संचारी गीतम्
2. लक्षण गीतम्

**लक्ष्य गीतम्** - लक्ष्य गीतम् सरल होता है लेकिन लक्षण गीतम् विस्तृत एवं कठिन होता है। लक्ष्य गीतम् में रागों का सरल रूप होता है, लक्ष्य गीतम् में संगदि नहीं होता है। संगदि अर्थात् कठिन स्वर समूहों को प्रयोग करते हुए साहित्य को गाना। संगदि रचनाकार द्वारा ही रचित होती है। सरल होने के बावजूद भी राग पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाते हैं। जैसे कि वर्णम्, कीर्तनम्, कृति, बन्दिशों में जिस प्रकार से पल्लवी, अनुपल्लवी, चरणम् अर्थात् स्थायी, अन्तरा, आभोग का प्रयोग होता है। उस प्रकार से गीतम् में इनका प्रयोग नहीं होता। इन बन्दिशों में जैसे पल्लवी गाने के बाद अनुपल्लवी गाते हैं तब दुबारा से पल्लवी गाते हैं किन्तु गीतम् में ऐसा नहीं होता है। शुरू करके अन्त तक बिना कोई पंक्ति दोहराए गाते चले जाते हैं।

कुछ कुछ गीतम् में पूरा गाने के बाद शुरू की दो लाईन गाते हैं। जैसे- कि गीतम् वर वाणा-रागम् मोहनम् (भूपाली)।

गीतम् शब्द के प्रयोग से प्रायः लक्ष्य गीतम् के बोध होता है- लक्षण गीतम् के लिए हमें लक्ष्य गीतम् बोलना पड़ता है। साधारणतया गीतम् मंच लय में गाया जाता है। स्वर एवं साहित्य दोनों का समान महत्व होता है जैसे कि -

म प ध सा सा रे

श्री ऽ ग ण ना थ

गीतम् में अवग्रह का प्रयोग बहुत दुर्लभ होता है। गीतम् के साहित्य का आधार ईश्वर होता है। कुछ कुछ गीतम् गुरु के उपर आधारित होता है। गीतम् का साहित्य ज्यादातर संस्कृत एवं प्राकृत में होता है। गीतम आन लेकरा, राग शुद्ध सावेरी इसकी रचना साम गान मंत्रोचार जैसा है। जितने भी गीतम् हमें प्राप्त होते हैं वे सभी 14-16 ई. अर्थात् त्यागराज के पूर्व प्राप्त होते हैं। लक्ष्य गीतम् के सामान्य गीतम् भी कहते हैं, कुछ कुछ लक्ष्य गीतम् घन राग में भी रचित है। इसलिए इन्हें घन राग गीतम् भी कहते हैं। पुरन्दर दास ने विष्णु, विघ्नेश्वर एवं महेश्वर के ऊपर आधारित गीतम् की रचना की है इनके द्वारा रचित गीतम् को पिल्लारी गीतम् के नाम से जाना जाता है। पुरन्दर दास जी के बाद पड्डाला, गुरुमूर्ति शास्त्री ने बहुत सारे गीतम् की रचना की है। उनको वेङ्गीता पड्डाला गुरुमूर्ति शास्त्री भी कहा जाता है क्योंकि इन्होंने 100 गीतम् की रचना की है। रामामात्य भी गीतम् के अच्छे रचनाकार थे। किन्तु उनके द्वारा रचित कोई भी गीतम् उपलब्ध नहीं है।

**लक्षण गीतम्**- लक्षण गीतम् लक्ष्य गीतम् की तुलना में अधिक विकसित है जैसे लक्ष्य गीतम्

धातु एवं मातृ का प्रयोग होता है वैसे ही लक्षण गीतम् में भी इनका प्रयोग होता है किन्तु इसका साहित्य ईश्वर पर आधारित न होकर इसमें रागों के लक्षण का वर्णन होता है। लक्षण गीतम् के दो भेद होते हैं।

1. रागांग राग लक्षण गीतम्

2. जन्य राग लक्षण गीतम्

1. रागांग राग लक्षण गीतम्- रागांग राग लक्षण गीतम् रागांग के ऊपर आधारित होता है अर्थात् मेल कर्ता रागांग के उपर आधारित होता है। इनके तीन विभाग होते हैं इन विभागों को खण्ड कहते हैं।

क. सूत्र खण्ड

ख. उपांग खण्ड

ग. भाषांग खण्ड।

क. सूत्र खण्ड - सूत्रखण्ड में रागों का संकेत मात्र होता है उदाहरण-

रेवि कोटि तेजा गुणगान भट्ट भाव

महानुभाव पुरिपालित भानदवा

ध्रुवित सुर शास्त्रवा

नुता मृदु पाद पल्लवा

यहां स्वरों का संकेत साहित्य में मिलता है -

रा, गु, म, प, ध, नु

इसको देखने से ये ज्ञात हो जाता है कि कौन सा स्वर प्रयोग हो रहा है जैसे- रा से ज्ञात होता है रा 1, गु से ज्ञात होता है ग, म से ज्ञात होता है म 1, ध से ध 1, नु से नि।

ख. उपांग खण्ड- उपांग खण्ड में मेल रागों द्वारा उत्पन्न जन्य उपांग रागों का वर्णन मिलता है। इसमें चक्रों का विवरण भी मिलता है जैसे- अग्नि गो, चक्र बाणा इत्यादि चक्रों का विवरण मिलता है।

ग. भाषांग खण्ड- भाषांग खण्ड में मेल कर्ता स्वरों के अतिरिक्त अन्य स्वरों का भी प्रयोग होता है। हर मेल में भाषांग खण्ड हो ऐसा आवश्यक नहीं है कई कई मेल कर्ता रागों में भाषांग राग की उत्पत्ति नहीं हुई है इसलिए उन रागों में यदि लक्षण गीतम् रचा गया है तो उसमें केवल सूत्र या उपांग खण्ड होगा भाषांग खण्ड नहीं जैसे राग तोडी में सूत्र एवं उपांग खण्ड ही है इसके विपरीत कल्याणी राग में सूत्र खण्ड, उपांग खण्ड एवं भाषांग खण्ड तीनों खण्डों की रचना हमें मिलती है।

लक्षण गीतम् में रागों का स्पष्ट लक्षण होता है अर्थात् स्वरों का प्रयोग ऐसे होता है कि उसको एक बार सुनने से रागों की पहचान तुरंत हो जाती है जिसके फलस्वरूप विद्यार्थियों को रागों के चलन का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

संदर्भ सूची :

1. साउथ इंडियन म्यूजिक बुक नं - 3

2. दक्षिण भारतीय संगीत चरित्र

# तराना गायन शैली-वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

डॉ. नीतू गुप्ता

तराना प्राचीन निबद्ध गीत का ही एक प्रकार है। तराना का प्राचीन नाम तिल्लाना था। तराना नाम सुनते ही हजरत अमीर खुसरों का नाम स्वतः ही दृष्टिपटल पर अंकित हो जाता है। ऐसा माना जाता है कि ओम अनन्त हरि नारायण, ओम तत् सत् यही ईश्वर उपासना का मंत्र के अक्षरों का बिगड़ा हुआ रूप ही अनिबद्ध रीति के आलाप तथा निबद्ध रीति के तराना या तिल्लाना में प्रयुक्त होते हैं जैसे- नोम, तोम, तरना, देरे, तन, री, रेने, नारा, यन, यल, लोम, तनाना इत्यादि। क्योंकि शास्त्रीय या मार्ग संगीत की उत्पत्ति ईश्वरोपासना तथा मंदिरों में वेद मंत्रों के पठन से हुई है। ईश्वर उपासना के लिये प्रयुक्त ये मंत्रों का गायन ही काल प्रवाह के साथ चलकर धीरे-धीरे परिवर्तित होकर अपभ्रंश शब्द के रूप से रह गये।

तराना एक लोकप्रिय गायन शैली है अतः तराना गीत शैली की उद्दीप्तभावना का श्रेय किसे दिया जाये इस बारे में विविध मत हैं।

उस्ताद अमीर खाँ साहब का गन्तव्य नादिर दिर दिर दानी तो दानी सूफी पंथी साधकों का एक मंत्र है और इसका प्रयोग तराने के प्रचलन में हुआ।

मराठी के संत कवि एवं संगीत वेत्ता रीमान् दासोपंत (1551-1615) ने राग संगीत के हजारों पदों की रचना की है। इन पदों पर केदार, काफी, श्री इत्यादि रागों के नाम दिये हैं। सभी प्रबन्ध रचना ही है। इन प्रबन्धों में तेन-तेन की रचना "सरगम" मृदंग के बोल आदि सब प्रकारों का अंतर भाव है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि तराने की उत्पत्ति प्रबन्ध से हुई।

मदनलाल व्यास (बम्बई) के उत्तर-दक्षिण भाग का संगीत शीर्षक शोध निबन्ध में हिन्दुस्तानी और कर्नाटक दोनों संगीत प्रणालियों की आधुनिक बंदि को यदि ध्यान पूर्वक अध्ययन किया जाये तो पता चलता है कि तराने का प्राचीन प्रबन्धों से सम्बन्ध है। आधुनिक त्रिवट "कैवाड़" नामक प्रबन्ध के समान है विशेष रूप से इस मिश्र स्वरूप आधुनिक तराना भी "कैवाड़" प्रबन्धों की बाद की श्रेणी में स्पष्ट उदाहरण है। आधुनिक चतुरंग बंदिश, चतुर प्रबन्ध की बिल्कुल प्रतिलिपि है।

श्रीमती मालविका कानन जी के अनुसार तराना प्राचीन निबद्ध गीत का ही एक प्रकार है। पर तराना नाम बाद में प्रचलित हुआ है। जो हजरत अमीर खुसरों का दिया हुआ है। तराना का प्राचीन नाम तिल्लाना है। दक्षिण भारत में गायन तथा नृत्य के साथ इसका उपयोग किया जाता है। ऐसा कहा गया है कि तराना के अविष्कारक हजरत अमीर खुसरों हैं, परन्तु इस सिद्धान्त में बड़ा मतभेद है और मतभेद विचारों का समन्वय करने से ऐसा प्रतीत होता है कि तराना प्राचीन प्रबन्ध गीत का ही प्रबन्ध है, परन्तु अमीर खुसरों ने जिस गीत शैली को प्रचलन में लाया या नई-नई बंदिशें बनाई, तराना इस नाम से इस गीत शैली का नामकरण किया गया। इसी कारण से अमीर खुसरों का नाम तराने के अविष्कारी के रूप में जोड़ा गया। प्राचीन तराने की बंदिशों में विलम्बित लय के भी तराने पाये जाते हैं। जो ख्याल नुमा कहलाते हैं।

उस्ताद हफीज अहमद खाँ जी के विचार "अनन्त हरि नारायण"- यहाँ से हमारा संगीत

हआ और आलाप भगवान अराधना के शब्द है। लेकिन उसके विस्तार को कुछ अपभ्रंश करके नोम-तोम या त न न न न रि रि रि रि कर दिया लेकिन बाद में चलकर उसके माने कुछ नहीं निकला क्योंकि कला की दृष्टि से Art Prevail करता है और उसका शब्दार्थ खत्म हो जाता है कुछ लोग समझते हैं कि जो आलाप के बोल है वही तराने के बोल हैं। तराना का मुख्य सौन्दर्य लयकारी का है।

विद्याधर व्यास जी के शब्दों में तराना बहुत आकर्षक व लोकप्रिय गीत प्रकार (बर्हि गीत, निर्गीत) है, यद्यपि आजकल बहुत कम गायक इसे गाते हैं। तराना के बारे में यह एक गलत धारणा है कि तराना द्रुत लय में त न न न आदि शब्दों की करामात Acrobatics है। तराना का मुख्य सौन्दर्य लयकारी का है। तराना में गायक गमक, मींड स्वरसंगतियों का सौन्दर्य दिखाते हैं। गायन में शब्दार्थ, काव्य, काव्यार्थ की प्रसंगता होने वाली अड़चन दूर करके केवल स्वर लय का आनन्द तराना करा देता है।

तराना गायकों में यदि हम इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध से उत्तरार्द्ध में हुये परिवर्तन पर दृष्टिपात करें तो हमें यह ज्ञात होता है कि (पं. विद्याधर व्यास जी के शब्दों में) तराना गायकी के दो ढंग प्रचलित है। एक ढंग में बंदिश गाने के बाद बंदिश में प्रयुक्त बोलों का ही विस्तार लयकारी के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार की तराना गायकी में स्व. पं. विनायक राव पटवर्धन, उस्ताद निसार हुसैन खाँ एवं उनके शिष्य सरफराज हुसैन खाँ, श्री हफीज अहमद खाँ आदि कलाकारों का नाम इस गायन शैली हेतु विशेष से लिया जाता है।

इस गीत शैली का दूसरा ढंग है वह जो ख्याल से बहुत कुछ मिलता है। ख्याल की बंदिश के स्थान पर तराना के बोलों जैसे ता, ना, ट्रे, ट्रे, दानी तू दानी, नोमतोम, ओ दानी के आधार पर बंदिश गाई जाती है। तालबद्ध रचना प्रस्तुत करने के बाद ख्याल के समान तानें ली जाती हैं। इस क्रिया में उस्ताद निसार हुसैन खाँ, उस्ताद आमिर खाँ आदि कलाकारों के नाम लिये जाते हैं।

डॉ. सुमति मुटाटकर के शब्दों में इस शताब्दी में तराना की बंदिश पर विचार करते समय इसके मुख्य रूप से तीन प्रकार बनते हैं।

1. बंदिशों में केवल तराने के बोलों का प्रयोग किया जाता है।

2. बंदिशों में तराना के बोलों के अतिरिक्त सार्थक साहित्य का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार की बंदिशों में यदि स्थाई में तराने के बोल प्रयुक्त हैं तो अन्तरा में सार्थक साहित्य फारसी भाषा के शेर गाये जाते हैं। जैसे- स्थाई तन देरे न दानी दीम

तन न दिर दिर तनन नन  
तुम दिर दिर तदारे दानी  
अंतरा- खल गमी गोयद के खुसरो  
बुत परस्ती गोयद के खुसरो  
आरे-आरे में कुलम  
बाखल को आलम कारनेस्त

3. तराने के तृतीय प्रकार में तराने के बोलों के अतिरिक्त मृदंग या तबले, पखावज के बोल भी गाये जाते हैं।

शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुछ तराने केवल फारसी शेर के गाये जाते रहे। जो आज भी गाये जाते हैं लेकिन कम मात्रा में।

“मंतोशुदम तू मनशुदी, मनतन शुदम तू जा शूदी  
ता करन गोयद बात अजीम, मन दी गरम तू दी गरी  
आगच्छ, आगच्छ, आवेश्य आवेश्य  
मम हृदये प्रवेश्य प्रवेश्य”

तराने में लय वैचित्रयता इसका प्रमुख अंग है। तराने में गमक, मीड़, स्वर संगतियों का सौन्दर्य प्रमुख होता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जब हम तराना गायन शैली को देखते हैं तो हमें यह अर्थहीन शब्दों की बंदिश के गीत प्रकार के भाँति नजर आता है तराना में यंत्र वाद्य की चंचल गतिमयता तथा झाला की खूबसुरती की झलक दिखाई देती है। खासतौर पर ये दिर दिर दिर दिर, तुं दिर दिर दिर दिर, त न न न, न न न न इन शब्दों के सहारे तराने के अन्तिम अंश में सितार या सरोद के झाले की तरह लयकारी

के साथ स्वरों को सजाये जाते हैं। तराना में वाद्य यंत्रों के शब्दों जैसे तबला और मृदंग के बोलों का उपयोग किया जाता है और ताल में बंधे हुए शब्दों के सहारे लयकारी का चमत्कार दिखाया जाता है। तराने में फारसी शब्दों का प्रयोग भी होता है। तराना में लय वैचित्र्य होता है। फिल्मी गीतों में तराने के बोलों का प्रयोग किया जाता है। तराने के प्रचार-प्रसार में स्व. उस्ताद पं. विनायक राव पटवर्धन, स्व. उस्ताद निसार हुसैन खाँ के शिष्य सरफराज हुसैन खाँ, स्व. उस्ताद हफीज अहमद खाँ, श्री गुलाम अकबर खाँ, श्री जुल्फीकार हुसैन खाँ, राशिद खाँ इत्यादि कलाकारों के नाम विशेष रूप से लिये जाते

हैं। अतः तराना एक प्रचलित एवं लोकप्रिय गायन शैली है।

### संदर्भ सूची :

1. संगोराम श्रीकृष्ण, मुक्त संगीत संवाद, पुणे।
2. संगीत पत्रिका - हाथरस
3. संगीत कला विहार, पत्रिका
4. छायानट - उ.प्र. संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ
5. साक्षात्कार से प्राप्त (खैरागढ़, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय), उस्ताद हफीज अहमद खाँ जी स्वतः साक्षात्कार
6. संगीत रिसर्च अकादमी, कोलकाता।

## “फरुखाबाद घराने में प्रयुक्त गतें एवं उनकी विशेषताएँ”: एक अध्ययन

डॉ. रश्मि श्रीवास्तव

उत्तर भारतीय संगीत में सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित ताल वाद्य तबले का प्रादुर्भाव अब से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। इन शताब्दियों में कितने ही उच्चकोटि के कलाकार, साधक एवं रचनाकार पैदा हुए हैं, जिन्होंने अपनी निजी प्रतिभा एवं सृजनशक्ति के आधार पर विभिन्न परिवर्तन करके नवीन शैलियों को जन्म दिया और जब उस नव निर्मित शैली का अनुसरण उनके वंश एवं शिष्यों द्वारा पीढ़ियों तक चलता गया, तो उसे एक घराने की मान्यता प्राप्त हुई, और यहीं से धीरे-धीरे नवीन घराने स्थापित होते गये यथा:- दिल्ली घराना, अजराड़ा घराना, लखनऊ घराना, फरुखाबाद घराना, बनारस घराना व पंजाब घराना।

वर्तमान समय में तबला वादन की परम्परा का जो विकसित रूप परिलक्षित होता है, उसके लिए तबला-वाद्य के इन समस्त घरानों का अकथनीय योगदान रहा है। इन समस्त घरानों ने अपनी वादन-विशेषताओं से तबला वादन के क्षेत्र को समृद्ध व वैभवशाली बनाया। सभी घरानों का अपना इतिहास, अपनी अपनी वादन शैली, उत्कृष्ट बोल-बन्दिशे व विशिष्ट वादन प्रकारों का एक विशाल संग्रह है। इस विशाल-संग्रह के विकास में फरुखाबाद घराने ने अपना अभूतपूर्व योगदान दिया, अपनी निजी विशेषताओं और मौलिक कृतियों (वादन प्रकार व विशिष्ट बन्दिशों) के कारण स्वतन्त्र तबला वादन एवं संगत दोनों ही क्षेत्रों में यह घराना 'मील का पत्थर' साबित हुआ।

स्वतन्त्र वादन क्रम में यद्यपि इस घराने में अधिकतर वादन प्रकारों का वादन किया जाता है

तथापि 'गत' वादन यहाँ का वैशिष्ट ही कहा जाता है। फलतः यह वाज 'गत के वाज' के नाम से भी जाना जाता है। गतें फरुखाबाद वाज की आधार-स्तंभ है। फरुखाबाद घराने के कलाकारों का भी मानना है कि तबला स्वतन्त्र वादन की प्रमुख बन्दिशों में गतों को विशेष स्थान दिया जाता है। तबला स्वतन्त्र वादन में 'गत' बजाने की प्रथा को महत्व इसी घराने से प्राप्त हुआ। ऐसी किंवदन्ति है कि हाजी विलायत अली को लखनऊ घराने के उस्ताद बख्शू खाँ से दहेज में बहुमूल्य 'सात' गतें प्राप्त हुई थी।<sup>1</sup> जिसके आधार पर अन्य बन्दिशों की रचना हाजी साहब द्वारा की गई। हाजी विलायत अली से लेकर आधुनिक समय तक फरुखाबाद घराने के अनेकों कलाकारों ने विभिन्न प्रकार की गतों की रचना की। फलतः इस घराने में सभी प्रचलित गतों का विशाल भण्डार है।

'गत'. यदि इसके शाब्दिक अर्थ पर दृष्टिपात किया जायें तो विभिन्न शब्द कोशों में गत का निम्नवत् अर्थ प्राप्त होता है:-

1. गया हुआ, बीता हुआ जैसे- गत-मास, गत-दिवस, लुप्त हो चुका या इस लोक से चला गया अथवा रहित, हीन, अवस्था या, दशा, गति आदि।<sup>2</sup>
2. संगीत के क्षेत्र में गत से तात्पर्य बन्दिश से भी है।

तबला वादन के क्षेत्र में गत से तात्पर्य यदि बन्दिश विशेष व गति से ले तो इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों, कलाकारों, कला-मनीषियों के विचार निम्नलिखित प्रकार से दिये जा सकते हैं :-

1. गत किसी घराने की पहचान है, एक मौलिक सोच है। अतः टुकड़े, परन से भिन्न ऐसी रचना जिसके अन्त में स्वतन्त्र रूप से तिहाई ना हो गत कहलाती है। कुछ गतें तिहाई युक्त भी होती हैं।<sup>3</sup>
2. गत फूलों से बना वह गुलदस्ता है जो अपने आप में सम्पूर्ण होता है जिसे अपने अनुसार घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता क्योंकि गत के बोलों में एक विशेष गुँथाव, संयोजन, आपसी सम्बन्ध, अनुपात होता है और शुरू से अन्त तक बोलों में एक क्रम रहता है जो बदला नहीं जा सकता। बोल आपस में जोड़े बनाते हुए से भी प्रतीत होते हैं, मानो सवाल-जवाब चल रहा हो।<sup>4</sup>
3. गत संश्लिष्ट रचना है, जिसका कायदे के समान विस्तार नहीं किया जा सकता, यदि उसे विस्तार पूर्वक बजाते हैं तो वह गत ना होकर गत की विशेषता लिए हुए कायदा बन जाता है जिसे विद्वजन गत-कायदा कहते हैं। गत में कायदे के समान खुली-मुंदी (खाली-भरी) भी नहीं रखी जाती है, अगर होती भी है तो वह बन्दिश का एक भाग ही होती है, अलग से नहीं। अतः “गत” तबले की विस्तार पूर्वक व विस्तार रहित बन्दिशों के मध्य की कड़ी भी मानी जाती है।
4. गत से तात्पर्य ‘गति’ से भी है। जिस प्रकार गाड़ी अपनी रफ्तार बदलती रहती है उसी भाँति गत में भी लय बदलती रहती है। अतः गत एक ऐसी कला पूर्ण बन्दिश है जिसमें कलाकार या रचनाकार प्रत्येक लय का प्रयोग दर्शाते हैं।
5. गत की लय निर्धारण में रचनाकार दैनिक जीवन की क्रियाकलापों से ही कल्पना में रंग भरता है जैसे- मोर की चाल, हाथी की चाल, पानी का बहाव, झूले की चाल, गेंद की गति, चींटी की चाल आदि। प्रत्येक गत एक खास लय में ही निबद्ध होती है और उसका आनन्द भी उसी लय में आता है।
6. बाज के अनुसार विभिन्न बोलों द्वारा निर्मित वह रचनाओं प्रायः तिहाई युक्त एवं तिहाई

रहित दोनों प्रकार की हो सकती है, गत कहलाता है।<sup>5</sup>

7. गत ऐसे बोलों के समूह को कहते हैं जिनमें सुन्दरतायुक्त लयकारियों और साथ-साथ खाली भरी के अंगों का भी दर्शन होता है।<sup>6</sup>
8. बाज के अनुसार बनायी गयी बोलों की ऐसी रचना जो पढ़ने तथा बजाने में छन्द की तरफ प्रतीत होती है उसे गत कहते हैं।<sup>7</sup>
9. “गत मुलायम बोलों की ऐसी रचना है जिसमें एक पद एक से अधिक बार आता है।
10. यह विभिन्न प्रकार के संयुक्त बोलों से युक्त विशेष प्रकार की रचना होती है जिसे एक बार ‘धा’ (भरी) से बजाया जाता है और एक बार ‘ता’ (खाली) से बजाया जाता है।<sup>8</sup>
11. वादन शैली के अनुरूप मुलायम बोलों की ऐसी रचना जिसमें पलटे न किये जा सकें और जो कायदा, टुकड़ा, परन और पेशकार आदि से भिन्न हो गत कहलाता है।<sup>9</sup>

गत के सम्बन्ध में दी गई उपरोक्त व्याख्याओं को यदि सार रूप में देखें तो कह सकते हैं कि “गत तबले के प्रमुख वादन प्रकारों में से एक है। तबले की स्वाभाविक कर्ण-माधुर्यता एवं कोमलता की सृजना हेतु यह मुलायम वर्णों से गुँथी वह रचना है जिसमें छन्दबद्धता प्राणतत्व है। यह टुकड़ा, परन, कायदा व पेशकार आदि से भिन्न ऐसी विशिष्ट वादन प्रकार है जिसमें भरी व खाली दो भाग होते हैं किन्तु इसका कायदे के समान विस्तार नहीं किया जा सकता। गत का वादन विभिन्न लय-लयकारियों में किया जाता है। वस्तुतः भिन्न-भिन्न लयों के प्रयोग के कारण इस वादन प्रकार को गति के आधार पर ‘गत’ के रूप में परिभाषित किया गया है।

गतें प्रायः बनारस, लखनऊ, पंजाब आदि सभी घरानों में बजाई जाती है परन्तु फरुखाबाद घराने की गतें विशेष आकर्षण का केन्द्र मानी जाती हैं। यहाँ की गतों में विभिन्न प्रकार की लयकारियाँ, बोल समूह आदि का सुन्दर संयोजन किया जाता है।

यहाँ की गतें एक विशेष प्रकार की छंद, कविता आदि लिए हुये होती है। फलतः इस घराने की गतों में कुछ संरचनात्मक विशिष्टताएँ पाई जाती हैं जिनका वर्णन निम्नलिखित हैं :-

1. ऐसा माना जाता है कि लखनऊ की अपेक्षा यहाँ की गतें अधिक बारीकी से रची गई हैं।
2. डॉ० मुकुन्द भाले जी के शब्दों में- ‘गतें “शायरी-ए-तबला” कहलाती हैं’, और फर्रुखाबाद की गतों में शायरी का आनन्द आता है। अतः फर्रुखाबाद घराने की गतें इतनी खूबसूरत व आकर्षक हैं कि अन्य सभी घरानों के कलाकार इन गतों को आदर से पढ़ते हैं व इनके आधार पर नवीन गतों की रचना करते हैं। उस्ताद अमीर हुसैन जो स्वयं एक महान रचनाकार भी थे, का मानना था कि यदि “हाजी साहब की एक गत भी कार्यक्रम में बजाई जाये तो कार्यक्रम सफल हो जाता है।”
3. फर्रुखाबाद ने गतों का शुद्ध रूप प्रस्तुत किया है, जिसे टुकड़े, परन आदि से बिल्कुल भिन्न पहचाना जा सकता है। अतः गतें फर्रुखाबाद घराने की खासियत है, पहचान है।
4. गतों को यहाँ पर लयकारी के विभिन्न दर्जों में बजाने की प्रथा है।
5. फर्रुखाबाद वाज की गतों में तक तक, तकित घेनतिरकित, घिड़नग, घिनगिन, तिगनग, घेन्तड़ाउन, घेत्ता, धीकित दीऽग, दिनागिन, दिनतग, घेतग घेनग, कड़ाउन, धागेना, धागेतिट, घिरकित, घिरघिर, दिड़तग, तिरकित, कतकत, कड़ाऽड़, घिन, धुमकितक, नागिन, धात्राक, आदि बोल समूह बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं।
6. यहाँ की गतों की संरचना व बोलों का संयोजन इस प्रकार से रखा जाता है कि वे आपस में गुंथे हुए या लिपटे हुए से प्रतीत होते हैं।
7. दर्जेदार गतें तिहाईदार होती हैं व सादी गतें जो एक ही दर्जे (लयकारी) में निर्मित होती हैं अधिकतर तिहाई रहित होती हैं।
8. कुछ गतों में खाली-भरी की सुन्दरता भी झलकती है।
9. फर्रुखाबाद घराने की गतों में काव्यात्मकता का भाव अधिक रहता है। इसीलिए यहाँ की गतों की तुलना शायरी से की जाती है।
10. फर्रुखाबाद घराने की गतों में प्रायः पखावज व नक्कारा आदि वाद्यों के बोलों को तबले की

प्रकृति व स्वभाव के अनुसार सुन्दरतापूर्वक समायोजित किया जाता है।

11. तबला वादन के क्षेत्र में प्रचलित सभी प्रकार की गतें इस घराने में बजाई जाती हैं। विभिन्न कलाकारों के विचारानुसार पुराने उस्तादों से बहुत सी भिन्न-भिन्न प्रकार की गतें सुनी हैं जो इस घराने का अक्षय भण्डार कही जा सकती हैं, अतः इस बाज में अनेकों प्रकार की गतें बजाई जाती हैं जैसे :- सादी गत, दोपल्ली, तिपल्ली, चौपल्ली गत, चक्रदार गत, फरमायशी गत, मंशेदार गत, झूलना गत, फर्द गत, तीयादार गत, तीया रहित गत, तीस हजारी, दरबारी गत, नाटोरी गत, तिलैयागत, दुमुंही गत, दोघारी गत, दहेजू गत, भग्नाति जाति गत, रदूनाजाति गत, हितकार जाति गत, रंगदार गत, नातुरकी जाति गत, गोरंग जाति गत, गोरनिय जाति गत, नारदीव जाति गत इत्यादि।

फर्रुखाबाद घराने में अनेक प्रकार की गतें हैं जिनकी संख्या के विषय में विद्वानों की अपनी अपनी विचार धारा है। जहाँ एक ओर स्व. पं. निखिल घोष के अनुसार पचास से भी अधिक गतें फर्रुखाबाद में पाई जाती हैं, वहीं प्रो. मानस दास जी का मानना है कि ताल शास्त्र के अनुसार 18 प्रकार की गतें हैं, जिनमें से स्व. उ. मसीत खाँ ने फर्रुखाबाद वाज की 10 प्रमुख गतें स्पष्ट की।

फर्रुखाबाद घराने की कतिपय उत्कृष्ट गतें एवं उनमें निहित विशेषताएँ :-

गत : (तीनताल)			
धाऽघेघे	तगधिन	धागेतिरकित	तूनाकता
x			
कताघेघे	तगधिन	धागेतिरकित	तूनाकता
2			
ताऽकेके	तकतिन	ताकेतिरकित	तूनाकता
0			
कताघेघे	तगधिन	धागेतिरकित	तूनाकता
3			
तकतकतक	तकतकतक	घितराऽन	घगेऽकित
x			
धात्रकधिकित	कतगदिगन	धाऽऽऽ	कऽऽऽ
2			

ऽनघिन ऽऽतऽ धाऽऽऽ ऽऽघिन  
0  
ऽऽतऽ धाऽऽऽ ऽऽघिन ऽऽतऽ धा  
3 X

### विशेषताएँ

- प्रस्तुत गत फर्रुखाबाद घराने के कलाकार उ. अहमद जान थिरकवा जी की बंदिश है।
- लयकारियों का समावेश यहाँ की गतों की विशिष्टता है, जो उक्त गत में भी द्रष्टव्य है।
- प्रस्तुत गत खाली व भरी दोनों ही बोलों से संयोजित है। उक्त गत तिहाईसहित गत है।
- फर्रुखाबाद बाज में चांटी, लौ, व स्याही के बोलों का सुन्दर समायोजन रहता है जो कि इस गत में दृष्टिगत होता है।
- फर्रुखाबाद बाज की बंदिशों की रचना में जिन विशेष बोल समूहों का समायोजन रहता है उनमें से धगेतकिट, धात्रकधिकिट, तगधिन, तक आदि बोल समूहों का सुंदर संयोजन उक्त गत में परिलक्षित है।
- फर्रुखाबाद बाज में पखावज के बोलों का सुन्दर सम्मिश्रण होता है जो धगेतकिट, धितरान, कतगदिगन, तूनाकता आदि बोलों के माध्यम से स्पष्ट परिलक्षित है।
- बोलों का गुंथाव व संयोजन यहाँ की गतों में विशेष उल्लेखनीय है, नादात्मक सौन्दर्य इस गत में दिखाई देता है।
- फर्रुखाबाद बाज में दांए-वांए बोलों का संतुलित संयोजन रहता है, उक्त गत में स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

### गत : (तीनताल)

धगेऽतकिटधाऽ ऽऽऽतकिटधाऽ  
X  
तकिटतकिटतक तिटकतगदिगन  
धाऽधाऽधाऽकिट तकदीऽदीऽदीऽ  
2  
किटतकनाऽनाऽ नाऽकिटतकतक  
तकतककिटतक धाऽधाऽकिटतक  
0

दीऽदीऽकिटतक नाऽनाऽकिटतक

तकतककिटतक धाऽकिटतकदीऽ  
3

किटतकनाऽकिट तकतककिटतक धा  
X

### विशेषताएँ

- उपरोक्त गत में अनाघात सौन्दर्य विशेष आकर्षण केन्द्र है।
- उक्त गत के बोल समूहों में गोपुच्छा यति का दिग्दर्शन है।
- यह गत चतस्र जाति में निबद्ध है, जिसमें चौगुन की लय दृष्टिगत होती है।
- चांटी, लौ, व स्याही के बोलों का सुन्दर समायोजन रहता है जो कि उक्त गत में दृष्टव्य है।
- फर्रुखाबाद बाज की बंदिशों की रचना में जिन बोल समूहों का समायोजन रहता है उनमें से धगेऽतकिट, किटतक, तकतक, तकिट, गदिगन आदि बोल समूहों का सुंदर संयोजन है।
- फर्रुखाबाद बाज में पखावज के बोलों का सुन्दर सम्मिश्रण होता है जो धगेऽतकिट, किटतक, तिटकत, गदिगन आदि बोलों के माध्यम से स्पष्ट परिलक्षित है।
- प्रस्तुत गत में बोलों के दोहराव से नादात्मक सौन्दर्य विशेष कर्णप्रिय है। उक्त गत तिहाईरहित गत है।

### गत : (तीनताल)

तकिटधिकिट तकिटधिकिट  
X  
तकिटधिकिट तकिटधिकिट  
धिनधिनधिन धिनधिनधिन  
2  
धिनधिनधिन धिनधिनधिन

नगनदिगन नगनदिगन नगनदिगन नगनदिगन  
0

तकघिंतिरकिटतक तकघिंतिरकिटतक

3

तकघिंतिरकिटतक तकघिंतिरकिटतक

खाली .....

### विशेषताएँ

- प्रस्तुत गत उस्ताद हुसैन अली खाँ साहब की बंदिश है।
- इस गत की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें एक ही बोल समूह को चार चार बार बजाया गया है इसलिए इस गत को चौधारी गत भी कहा जाता है।
- यह गत तिस्र जाति की है, जो तिगुन की लय में निबद्ध है।
- फर्रुखाबाद बाज की बंदिशों की रचना में जिन विशेष बोल समूहों का समायोजन रहता है, उनमें से तकिट, धिकिट तकतक, घिंतिरकिटतक, धिनधिन आदि बोल समूह उक्त गत में द्रष्टव्य हैं।
- फर्रुखाबाद बाज का एक विशेष बिन्दु यह है कि यहाँ बोलों का संयोजन इस प्रकार रखते हैं जिसमें अनामिका का प्रयोग अधिक होता है, जो कि उक्त गत में भी उल्लेखनीय है।
- प्रस्तुत गत ताली व खाली दोनों ही बोलों से समायोजित तिहाईरहित गत है।

### गत : (तीनताल)

ताऽधाऽ घिङ्गगतक घिङ्गगतकधाऽ घिङ्गगतक  
x  
घिङ्गगतकधा ऽऽकधाघिङ्गगतक तकधाऽऽधा दिङ्गनाऽ  
2  
किटतकदिङ्ग तीनाकिटतक तिरकिटतकता कतिकिङ्गगत  
0  
घिङ्गगतकधा ऽऽकधाघिङ्गगतक तकधाऽऽधा दिङ्गदिना धा  
3 x

### विशेषताएँ

- प्रस्तुत गत उस्ताद हाजी विलायत अली खाँ साहब की बंदिश है।

- यह गत चतस्र जाति की है, जो चौगुन की लय में निबद्ध है।
- फर्रुखाबाद बाज की बंदिशों की रचना में जिन विशेष बोल समूहों का समायोजन रहता है, उनमें से घिङ्गगत, तक, किटतक, किङ्गगत, दिङ्गदिना आदि बोल समूह उक्त गत में द्रष्टव्य हैं।
- बोलों का गुंथाव व संयोजन यहाँ की गतों में विशेष उल्लेखनीय है जिसमें पखावज के बोलों का सुन्दर सम्मिश्रण होता है। उक्त गत तिहाईरहित गत है।

### गत : (तीनताल)

धाऽकृधा ऽऽधाधा कृधाऽऽधा घिङ्गगततिगनग  
x  
तिरकिटतकताऽ तिरकिटतागेतिऽ  
2  
घिङ्गगततिरकिट तकताऽतिरकिट  
घिनतराऽनतिऽ टेऽघिनतेऽटेऽ  
0  
घिङ्गगततिगनग तागेतिऽघिङ्गगत  
तागेतिरकिटधिर धिरधिरघिङ्गगत  
3  
धिरधिरघिङ्गगत तागेतिऽकृधाऽन धा  
x

### विशेषताएँ

- उक्त गत उस्ताद हाजी विलायत अली खाँ साहब की बंदिश है।
- उक्त गत चतस्र जाति की है, जो चौगुन की लय में निबद्ध है।
- फर्रुखाबाद बाज की बंदिशों की रचना में जिन विशेष बोल समूहों का समायोजन रहता है, उनमें से धिरधिर, घिङ्गगत, तक, तिगनग, घिनतराऽन, कृधाऽन आदि बोल समूह उक्त गत में द्रष्टव्य हैं।
- उक्त गत के अन्त में तागेतिऽकृधाऽन बोल के प्रयोग से सम का आकर्षण अत्यधिक बढ़ गया है।

- फर्रुखाबाद बाज का एक विशेष विन्दु यह है कि यहाँ बोलों का संयोजन इस प्रकार रखते हैं जिसमें अनामिका का प्रयोग अधिक होता है, जो कि उक्त गत में भी उल्लेखनीय है।

### गत : (तीनताल)

धीकृविंधा गङ्गीविङ्गन  
x  
धागेत्रकाधिनविङ्ग नगदिननानाकत्ता

धागेतिटविङ्गान धागेनगदिनतग तिटकताविङ्गन  
2  
तिनकिनताकेतिरकिट तूनाकत्ताधिनगिन धागेतिरकिटतूनाकत्ता  
0  
तिनकिनताकेतिरकिट तूनाकत्ताधिनगिन धागेतिरकिटतूनाकत्ता  
3  
तिनकिनताकेतिरकिट तूनाकत्ताधिनगिन धागेतिरकिटतूनाकत्ता धा  
x

### विशेषताएँ

- प्रस्तुत गत उस्ताद मुनीर खाँ साहब की बंदिश है।
- यह गत चतस्र जाति की है, जो चौगुन व अठगुन की लय में निबद्ध है।
- उक्त गत हेतकार जाति की है।
- चांटी, लौ, व स्याही के बोलों का सुन्दर समायोजन है
- फर्रुखाबाद बाज की बंदिशों की रचना में जिन विशेष बोल समूहों का समायोजन रहता है, उनमें से धिङ्गान, धिङ्गनग, त्रक, दिनतग, नगदिन आदि बोल समूह उक्त गत में द्रष्टव्य हैं।
- पखावज के बोलों का सुन्दर सम्मिश्रण होता है। दिन, तूनाकता गदि, आदि बोलों को खूबसुरती के साथ तबले की प्रकृति के अनुरूप उक्त बंदिश में संयोजित किया गया है।
- उक्त गत के अन्त के पल्ले में भरी व खाली दोनों के बोलों का समावेश है।
- उक्त गत के अन्त में तिहाईदार बोलों का समावेश इसे विशिष्ट बनाता है।

### गत : ग्यारह मात्रा

धीकृ	विंधा	ऽकृ	विंधा	ऽकृ	विंधा	तगतिर	किटतग
x		2		0		3	
धातिरकिट	विकिट	कतघे	घेतिट	घेतंत	ताऽइ	धाऽइ	
4			x		2		
घेतिट	धातिरकिटघि	किटकत	गद्वी	घेऽन्नाऽ	धीकृविंधाऽकृविंधा		
0		3		4			
ऽकृविंधाऽतगतिरकिट	धा						
	x						

### विशेषताएँ

- प्रस्तुत गत उस्ताद हुसैन अली खाँ साहब की बंदिश है।
- उक्त गत में पेशकार रंग विशेष आकर्षण का केन्द्र है, जिसमें पेशकार के चलन से बोलों का संयोजन किया गया है।
- यह गत तिस्र व चतस्र जाति में निबद्ध है।
- फर्रुखाबाद बाज में दर्जेदार गत का वादन यहाँ की विशेषताओं में से एक है, जो उक्त गत के माध्यम से दृष्टव्य है, जिसमें दुगुन, तिगुन, चौगुन व अठगुन की लय स्पष्ट है।
- उक्त गत चौदर्जी गत कहलाती है, जिसमें कि लय के चार दर्जे दृष्टिगत होते हैं।
- फर्रुखाबाद बाज की बंदिशों की रचना में जिन विशेष बोल समूहों का समायोजन रहता है, उनमें से किटतग, धात्रक धिकिट, तगतिर आदि बोल समूह उक्त गत में द्रष्टव्य हैं।
- उक्त गत तिहाईरहित गत है।

### गत : ग्यारह मात्रा

धाऽघेना	ऽऽकतिट	तिटघेना	ऽऽकत्रक	घिटघेना
घिटघिट				
x	2		0	
किटतकदिंग	नानाऽऽक	घेनाकता	ऽताकता	धिङ्गनगतिरकिट
3		4		
तकधिरकिटतक	धाऽऽऽऽऽऽऽ	घेनाकता	ऽताकता	
x		2		
धिङ्गनगतिरकिट	तकधिरकिटतक	धाऽऽऽऽऽऽऽ	घेनाकता	
0		3		
ऽताकता	धिङ्गनगतिरकिट	तकधिरकिटतक	धा	
4			x	

## विशेषताएँ

- प्रस्तुत गत पं. जियालाल जी की बंदिश है।
- यह गत चतस्र जाति की है, जिसमें चौगुन की लय में निबद्ध है।
- फरुखाबाद बाज की बंदिशों की रचना में जिन विशेष बोल समूहों का समायोजन रहता है उनमें से घिड़नग, किटतक, दिंग, त्रक, तकतक, तकधिरकिटतक आदि बोल समूह उक्त गत में समायोजित हैं।
- फरुखाबाद बाज में पखावज के बोलों का सुन्दर सम्मिश्रण होता है। जो कि कता, धिटधिट उक्त गत में कुशलतापूर्वक संयोजित किया गया है।
- बोलों का गुंथाव व संयोजन यहाँ की गतों में विशेष उल्लेखनीय है, उक्त गत में अनाघात के माध्यम से लय का सौन्दर्य विशेष दर्शनीय है।
- उक्त गत के अन्त में दमदार तिहाई का समावेश है, अस्तु यह तिहाईदार गत है।

उपरोक्त गतें एवं उसमें निहित विशेषताओं को दृष्टिगत करते हुए हम यह कह सकते हैं कि ‘गतें’ फरुखाबाद घराने की देन है, व इस घराने की पहचान है। यहाँ बजाई जाने वाली गतों में निहित बोलों का सौन्दर्य कर्णप्रिय है, विशेष आकर्षण पैदा

करता है जो श्रोताओं को बरबस ही अपनी ओर आकृष्ट कर आनन्द विभोर कर देता है। इस घराने में विभिन्न प्रकार की गतों का वादन किया जाता है जिनमें निहित विशेषताएँ इस घराने की गतों की विशिष्टताओं की ओर इंगित करती है। फलतः ‘गतिया का बाज’ के नाम से भी ताल जगत में जाना जाता है।

## संदर्भ सूची :

1. उस्ताद साबिर खाँ (वंशज फरुखाबाद घराना) से प्राप्त साक्षात्कार।
2. i. संक्षिप्त हिन्दी शब्द कोश, पृ.-300  
ii. मानक हिन्दी शब्द कोश (द्वितीय खण्ड), पृ.-68  
iii. हिन्दी शब्द सागर (द्वितीय खण्ड) पृ. 756
3. मूलगाँवकर अरविन्द, तबला, पृ.-158
4. प्रो. सुधीर कुमार वर्मा, साक्षात्कार द्वारा
5. गोडबोले मधुकर गणेश, ताल शास्त्र, पृ.सं.-45
6. वशिष्ठ पं. सत्य नारायण, ताल मार्तण्ड, पृ.सं-16
7. दाधीच डॉ. पुरु, कथक नृत्य शिक्षा, पृ.सं.-324
8. मिश्र पं. छोटेलाल, ताल-प्रबन्ध, पृ.-41
9. राम डॉ. सुदर्शन, तबले के घराने, वादन शैलियाँ एवं बन्दिशें, पृ.-110
10. भालें डॉ. मुकुन्द (लेख) संगीत कला विहार, अप्रैल, 2002

# “शास्त्रीय संगीत-शिक्षा पद्धति का स्वरूप”

डॉ. अनिता रानी

भारतीय संगीत का ललित कलाओं में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक कला का सृजन किसी न किसी माध्यम से होता है। जब कला का सृजन स्वर, लय एवं ताल के माध्यम से होता है तब उसे संगीत कला कहते हैं। यहाँ पर हम संगीत शिक्षा की बात कर रहे हैं इसका तात्पर्य शास्त्रीय संगीत की शिक्षा से है शास्त्रीय संगीत शिक्षा में भारतीय संगीत शिक्षा के इतिहास का आरम्भ वैदिक काल से ही माना जाता है। वैदिक काल से मध्ययुग तक संगीत शिक्षा गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा दी जाती रही है। उस समय में स्वर, लय, ताल के द्वारा ऋचाओं का गायन हुआ करता था। हृदय से कंठ और तालु से निःसृत स्वरों का अभ्यास गुरुकुल में कराया जाता था। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित मात्राओं का ज्ञान, लय और ताल के साथ संगीत को प्रदर्शित किया जाता था। फकीरुल्लाह की उक्ति ('रागदर्पण') से पता चलता है कि मुगल-युग से ही वास्तविक आचार्यों के अभाव के कारण संप्रदायगत संगीत-शिक्षा-पद्धति का लोप हो गया था। इस युग के कुछ पहले से ही हिंदुओं के नाट-मंदिर में नाट्यानुष्ठान कम हो जाने से दरबारी संगीत का निरंकुश प्राधान्य रहा। इस प्रकार पेशेवर संगीत की कद्र बढ़ गई। कला की अपेक्षा कौशल बढ़ा हो गया। संगीत में प्रतियोगिता आ गई। कई उद्भूत काल्पनिक क्रियाओं ने उत्तर-भारतीय संगीत में प्रवेश किया, अतः भारतीय राग-संगीत रियाज के माध्यम से कौशल-प्रदर्शन की वस्तु रह गया।

स्वर, पद और ताल के समन्वय से संगीत की सृष्टि होती है, इस समय एक ओर दरबारी संगीत

था तो दूसरी ओर उत्तर-भारत में भक्ति आंदोलन का आर्विभाव हुआ, धर्मचारी सूफी संतो, भक्तों के त्यागमय जीवन एवं संगीतमय धर्मोपदेश से भारतीय संगीत व साहित्य अपनी उच्चतम स्थिति को प्राप्त हो रहा था। समाज-सुधार का उद्देश्य लेकर अनेक संप्रदायों का उद्भव हुआ जैसे-रामानंदी वैष्णव, उदासी, राधावल्लभीय, सूफी, त्यागी आदि। इन भक्त कवियों में कबीरदास, सुरदास, तुलसीदास, मीराबाई, गुरु नानक, मलूकदास, रविदास, दादूपंथी गरीबदास, बनादास, अब्दुरहीम, रसखान, निजामुद्दीन औलिया, तथा अष्टछाप के आचार्यों में, पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि में अष्ट प्रहर की झाँकी के अनुकूल संकीर्तन और पदों के गायकों में सुरदास, कुंभनदास, नंददास, छीतस्वामी, चतुर्भजदास, गोविंददास, कृष्णदास, हरिदास एवं ग्वाल कवि आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन सभी का संगीत-ज्ञान असाधारण था। इनकी रचनाओं से विदित होता है कि इन्होंने संस्कृत, हिंदी-साहित्य के व्याकरण एवं संगीत के क्रियात्मक तथा शास्त्रीय ज्ञान में अद्वितीय स्थान प्राप्त कर लिया था। इन संगीत मर्मज्ञों ने कुछ नवीन रागों की रचनाएँ भी की हैं, जिनमें सुरदासी मल्हार, सुर-सारंग मीरा की मल्हार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वृंदावन के स्वामी हरिदास अपने समय के महान् भक्ति-संगीत-गायकों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे, जिनके शिष्यत्व में तानसेन-जैसे धुरंधर गायक व अन्य शिष्यों का निर्माण तथा पुष्टिमार्गीय संगीतज्ञ हरिराम व्यास द्वारा 'रागमाला' पर एक शास्त्रीय ग्रंथ की रचना इनकी साधना एवं सिद्धि का सहज प्रमाण है।

वरिष्ठ प्रवक्ता, सितार, संगीत विभाग बी. डी. जैन गर्ल्स पी. जी. कॉलेज आगरा

इन मनीषियों ने अपने जीवन-काल के अमूल्य क्षणों को संगीत-साहित्य की साधना, धर्मोपदेश के मौखिक प्रवचन एवं ग्रंथ-लेखन में अर्पित कर मानव-समाज का सन्मार्ग-दर्शन कराया। इसी दौरान 'संगीत शिक्षा' में घराने की नींव पड़ी। घराने दार संगीत शिक्षा में हर घराने की अपनी विशिष्टता थी। स्वर लगाव का तरीका, प्रस्तुती-करण का ढंग, तानों की प्रस्तुति का ढंग, लय का चुनाव, बोलबाट का ढंग सब भिन्न-भिन्न होने के कारण वे आस्तित्व में आये और संगीत की शिक्षा घरानों के नियमों व रीतियों के अनुरूप दी जाने लगी। बीसवीं शताब्दी में संगीत शिक्षा पद्धति में युगान्तकारी परिवर्तन आया। पं. विष्णु नारायण भातखण्डे तथा पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी ने संगीत के प्रचार-प्रसार में कड़ी मेहनत कर ग्वालियर, लखनऊ एवं बड़ौदा आदि नगरों में संगीत महाविद्यालयों की स्थापना की। इन्हीं महानुभावों के अथक परिश्रम से शैक्षिक विद्यालयों में भी संगीत को एक विषय के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। आज संगीत-शिक्षा का स्वरूप स्कूल-कॉलेजों में ऐच्छिक विषय के रूप में है, जहाँ सामूहिक रूप से संगीत-शिक्षा दी जा रही है।

आज संगीत शिक्षा को सिखाने के लिए नई पद्धतियाँ विकसित हो रही हैं। इन शिक्षा पद्धतियों को लेकर कई सवाल उत्पन्न हो रहे हैं। क्या शिक्षार्थियों को सीधे गत सिखायें या पहले आरोह-अवरोह सिखाने चाहिये ? पहले अंलकारों का अभ्यास करायें या पहले उन्हें रागों के बारे में बतायें ? और परीक्षा पाठ्यक्रम के अनुसार सिखायें तो कम समय में ही सब कुछ उन्हें सिखाना होगा क्योंकि पाठ्यक्रम ही इतना ज्यादा है और समय बहुत कम। आज जो शिक्षार्थी बी.ए. में प्रवेश लेता है। उसे न तो स्वरों का ज्ञान है न ताल का। फिर कैसे उसका परीक्षा पाठ्यक्रम पूरा करायें।

संगीत का ध्येय संगीत को जटिल करना नहीं होना चाहिए अपितु उसे आसान एवं रुचिकर बनाने का प्रयास करना चाहिए। यदि आज विभिन्न महाविद्यालयों व विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को ध्यान से देखें तो निश्चित ही आज की मांग के अनुसार नहीं है। ऐसा समय-समय पर अनुभव किया

जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विद्यालय, महाविद्यालय एवं इसके अतिरिक्त उससे संबंधित अन्य विषयों की ओर भी ध्यान देना होगा। आज शिक्षार्थी की मानसिकता 'शॉर्ट-कट' से जुड़ गई है उसमें इतना धीरज नहीं है कि वह घंटों एक ही चीज का अभ्यास करें वह जल्दी से जल्दी संगीत सीखना चाहता है और संगीतकार बनना चाहता है। पहले सुरज डूबने के बाद, दो घंटों में मतलब 8 बजे ही सभी लोग सो जाते थे। सुबह 3-4 बजे उठकर मंद्रसाधना की जाती थी। जिससे शिक्षार्थी की आवाज तैयार हो जाती थी तथा स्वरों का ज्ञान ब्रह्ममुहूर्त में बहुत अच्छे से हो जाता था। आज तो विद्युत का जमाना है तो रात तक लोग जागते रहते हैं और टी. वी. देखते रहते हैं परिणाम स्वरूप नई पीढ़ी को सुबह उठने की आदत नहीं है सिर्फ पुराने मेहनती जानकार कलाकार ही स्वर-साधना पर जोर देते हैं। आज व्यक्ति के पास समय का अभाव है। न उसके पास हँसने के लिए समय है न रोने के लिए और न ही शास्त्रीय संगीत सुनने के लिए। जिस तरह आज वह खड़े-खड़े थमस-अप व पैप्सी की ठंडी-ठंडी बोतल पीकर चलता बनता है, उसी तरह शास्त्रीय संगीत सुनने के लिए उसके पास चंद्र मिनट ही होते हैं।

भारत में शास्त्रीय संगीत शिक्षा में सबसे मुख्य विशेषता यह मानी गई है कि इसमें नियमों और सिद्धान्तों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया और भारत की प्राचीन गायकी ध्रुपद गायकी मानी गई है। यह गायन शैली विना गुरु ज्ञान के द्वारा संभव नहीं है क्योंकि स्वर साधना के बाद, ध्रुपद गायन शिक्षा देने से स्वरों में गंभीरता, मधुरता, रसभाव एवं आकर्षण उत्पन्न सम्भव माना गया है।

आधुनिक शास्त्रीय संगीत शिक्षा में तानों और आलापों पर ही विशेष बल दिया जाता है और गीत और शब्दों पर गायक कम ध्यान एवं कम महत्व देते हैं। वर्तमान समय में हमें शास्त्रीय संगीत शिक्षा का स्तंभ ऐसा निर्मित करना चाहिए जिसमें गुरु शिष्य परम्परा का भी समन्वय हो सके तथा गुरु मुख से भी ज्ञान निर्मित कर सकें तथा स्वरलिपि पद्धतियों द्वारा भी शिक्षा का विधिवत् पालन किया जाय जिससे कि दोनों पद्धतियों के गुणों का मिश्रण हो

सके। शास्त्रीय संगीत शिक्षा में महर्षि भरत ने गीत को नाट्य की शैल्या भी कहा गया है। शास्त्रीय संगीत शिक्षा में गीत अथवा नाद का प्रभाव सर्वत्र माना गया है।

संगीत-शिक्षा के क्षेत्र में गुरु-शिष्य परम्परा की प्रतिक्रिया में महाविद्यालयीन सामूहिक संगीत-शिक्षा की अभिनव पद्धति परिस्थितिजन्य निर्मित हुई। शास्त्रीय संगीत की शिक्षा को इस पद्धति के माध्यम से लोक व्यापक बनाने में अधिक सहायता मिली है। संगीत शिक्षा सामुदायिक जीवन के निर्माण में सहायक है। संपूर्ण भारत का संगीत सप्त-स्वरो में आबद्ध है। चाहे उत्तर भारतीय-संगीत पद्धति हो या दक्षिण भारतीय संगीत-पद्धति-दोनों के आधार सप्त-स्वर ही हैं। सामाजिक विषमता को दूर करने में महाविद्यालयी संगीत-शिक्षा पद्धति उपयोगी है। सामाजिक चेतना को जगाने में अन्य कलाकारों की अपेक्षा संगीतकारों की भूमिका महत्वपूर्ण है। अतः संगीत-शिक्षा का प्रधान लक्ष्य आध्यात्मिक है। इसी अध्यात्म के बल पर मानव मुक्ति को प्राप्त करता है। संगीत शिक्षा ऐसी शिक्षा है जिसके द्वारा मानव अपने जीवन के प्रत्येक पहलू को सँवार सकता है। अतः निष्कर्ष रूप

में हम कह सकते हैं कि शास्त्रीय संगीत को दोष रहित बनाकर उसकी शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन कर देने से भारतीय संगीत को मृत होने से बचाया जा सकता है, जिसकी जिम्मेदारी विद्यार्थियों पर नहीं, बल्कि शिक्षक और समाज पर है। पं. रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था कि "भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए संगीत तथा अन्य ललित कलाएँ जीवन में बड़ा महत्व रखती हैं। अचेतन की संपूर्ण अभिव्यक्ति इन्हीं के माध्यम से होती है, अतः इनकी शिक्षा को किसी भी कीमत पर विस्मृत या विकृत नहीं किया जाना चाहिए।"

### संदर्भ सूची :

1. शर्मा डॉ. स्वतन्त्र, संगीत-शिक्षण : समस्या एवं निराकरण,
2. पटनीटकर डॉ. अलकनंदा, शास्त्रीय संगीत शिक्षा समस्याएँ एवं समाधान
3. चतुर्वेदी प्रेम कुमार, संगीत-शिक्षण और घराना ,
4. दत्ता पूनम, भारतीय संगीत : शिक्षा और उद्देश्य-
5. संगीत शिक्षा : अंक जनवरी-फरवरी-1988
6. पत्र एवं पत्रिकाएं ।

## धूमिल होती फाग की मस्ती, लुप्त हो रही फागुनी संस्कृति

डॉ. वेणु वनिता

नगाड़ा, मृदंग, झांझ और मंजीरा जैसे भारतीय वाद्य यंत्रों के साथ ईश्वर स्तुति के संग, हास्य विनोद में रंगी फागुनी फाग का चलन काफी प्राचीन है। जहाँ पर कथाओं और संवादों, चौपाई, दोहा, सोरठा आदि के माध्यम से ईश्वरीय लीलाओं का वर्णन तो किया जाता था, वही उमंग और उल्लास का ऐसा माहौल सजता था, जो हर एक व्यक्ति को अपने रंग में रंग लेता था।

वसंती मौसम में अबीर-गुलाल के संग प्रेम की फुहार और होरी, धमार, फाग जैसी सांगीतिक अभिव्यक्तियों का मंच अब शहरी संस्कृति से लुप्त होता जा रहा है।

उत्साह और उमंग से सराबोर माहौल में होली के मौके पर स्वस्थ हास्य-व्यंग्य के संग ईश्वरीय स्तुति करते हुए होली के अवसर पर गाए जाने वाले फागुनी लोकगीतों की परम्परा शहर की भाग-दौड़ भरे जीवन से लुप्त होती जा रही है, जिसका मुख्य कारण समय की कमी है या यूँ कह लीजिए कि अब न तो होली की वह फागुनी मस्ती रह गई है और न ही फाग की वह संस्कृति, लेकिन गाँवों में फागुनी संस्कृति की यह परंपरा आज भी अपने रंग और स्वरूप में जीवित है, जहाँ आज भी गाँव की चौपाल फागुन के महीने में शाम होते ही सज जाती है। फाग मुख्यतः होली के समय गाए जाने वाले लोकगीतों की एक शैली है, जिसका प्रारंभ देवी वंदना के साथ होता है। इसके बाद कृष्ण व राम की लीलाओं का संगीत के माध्यम से सुरमयी शब्दों की माला के

साथ प्रस्तुत किया जाता है। साथ ही इसमें भक्ति, हास्य, वीर एवं श्रृंगार रस से ओत-प्रोत विभिन्न, दोहे, चौपाई, सोरठे आदि का भी समावेश होता है। (वर्तमान में फागुनी फाग का चलन काफी कम हो गया है।) फागुनी गीत बुंदेलखंडी, अवधी, भोजपुरी बोली वाले होते हैं। इन गीतों में मौसम के वर्णन के साथ-साथ हास्य-व्यंग्य का भी समावेश होता है। एक फागुनी गीत में लगभग 9 से 10 अन्तरे होते हैं। ईश्वरीय स्तुति के साथ इन गीतों में होलिका दहन से संबन्धित प्रह्लाद की कहानी का भी वर्णन किया जाता है।

होली के समय गाए जाने वाली फागुनी फाग में हिन्दुओं के प्रमुख तीन देवताओं भगवान राम, कृष्ण एवं शिव की लीलाओं के बारे में वर्णन किया जाता है।

“शिव शंकर खेले फाग गौरा के संग”

“होली खेले राधिका महारानी संग खेले नंद के लाल”

फाग व होली गीत मुख्यतः राग काफी, खमाज, तिलक कामोद, देश आदि रागों एवं ताल दीपचन्दी, जतताल, दादरा, कहरवा, धमार आदि तालों में गाये जाते हैं।

होली में गाए जाने वाले गीत भक्तिपरक होने के साथ-साथ श्रृंगार प्रधान भी होते हैं, जो लोगों के मानस को हर्ष और उल्लास से भर देते हैं। होली म

गाए जाने वाली फागुनी फाग की रचना चन्द्रसखी द्वारा की गई है, जो कृष्ण भक्ति से ओत-प्रोत है।

बुंदेलखंड में जनकवि "ईसुरी" रचित बसंत गीतों को 'फाग' कहते हैं। होली के आस-पास गाँव-गाँव समूह में फाग गाये जाते हैं। जनकवि ईसुरी को जब यह आभास हुआ कि अब उनका शरीर नहीं रहेगा तब उन्होंने अपनी आराध्य राधिका के प्रति जो फाग रचा वह इस प्रकार है-

विधवा करी देह ना मेरी, रजउ के घर की देरी।  
आवत जात चरन की धूरा, लगती तन हर बेरी।  
लागो आन फान के ऐंगर, वजन लगी वजनेरी।  
उठन चहत अब हाट ईसुरी, बाट बहुत दिन हेरी।

अन्य कवियों ने भी समय-समय पर फागों की रचना की है। फागों के कई प्रकार हैं यथा चौकड़िया एवं छन्दकार।

होली के समय फागुनी लोकगीत गाने की परंपरा काफी पुरानी है। पुराने समय में यह फागुनी फाग का उल्लास बसंत पंचमी से ही प्रारंभ हो जाया करता था एवं रंगपंचमी तक अनवरत् फागुनी फाग में रंगे युवकों की टोली, ढोलक, मंजीरे, झाँझ आदि लेकर घर-घर जाकर ताल धमार के साथ बसंत बहार का वर्णन करते फागुनी गीत गाया करती थी, जिसमें कभी राधे संग कृष्ण की ब्रज होली, सिया संग राम के फाग का, शिव शंकर संग गौरा की होली का वर्णन होता था। वही इन कथाओं के संग कही-कही हास्य-व्यंग्य का भी समावेश हुआ करता था, जो फागुनी बयार में पूरे माहौल को निश्छल हँसी से गुँजायमान कर देता था।

प्यार, स्नेह और आपसी भाई चारे के रंग से रंगें फागुनी होली के करीब आते ही फिज़ा भी फागुनी रंग में रंग जाती है। जहाँ टेसू का केसरिया रंग पूरे माहौल को उत्साह और उल्लास से सराबोर कर देता है, चहुँओर गीत-संगीत, हंसी-मजाक, हल्ला-गुल्ला और मौज-मस्ती से पूरा आलम रंगा हुआ रहता है, लेकिन अब वह समय नहीं रहा जब रंगों का यह फागुनी पर्व एक संस्कार के रूप में भारतीय लोगों के द्वारा मनाया जाता था। आधुनिक परिवेश में होली का स्वरूप बदलता जा रहा है, उसी तरह से भारतीय संस्कृति में रची-बसी बुंदेलखंडी से सजी-संवरी फागुनी फाग शहरी क्षेत्रों से लुप्त होती जा रही है। आपाधापी से भरे इस माहौल में अब लोगों के पास आराम से बैठकर उत्सव का आनंद उठाने का समय नहीं रह गया है, जिसके चलते फागुनी फाग के गवइयों और सुनने वाले अल्हड़ श्रोताओं दोनों की कमी होती जा रही है।

### प्रचलित फाग गीत-

1. होरी खेले रघुवीरा बिरज में
2. आज श्याम संग सब सखियन मिली ब्रज में होली खेलै
3. सिया खेले राम संग फाग
4. हम पर रंग न डारो संवरिया
5. भौजी रंग डार लो होली में
6. धीरे से मारो पिचकारी
7. खोजे सजनवा होरी में
8. खेलत गावत फाग
9. होली आई रे कन्हाई
10. ऐसी पिचकारी की घालन

# वैश्वीकरण के युग में संगीत द्वारा मूल्य शिक्षा : एक दृष्टि

डॉ. प्रवीण सैनी

भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण का अर्थ है विश्व में चारों ओर अर्थव्यवस्था का बढ़ता हुआ एकीकरण। भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण जैसी कल्पनाएं भारत के लिए नवीन नहीं हैं। यजुर्वेद में कहा गया है - आ नो भद्राः कतवो यन्तु विश्वतः, अर्थात् 'हे परम प्रकाशक परमात्मा, सद्विचार सभी दिशाओं से आए। प्राचीनकाल से ही 'वसुधैव कुटुंबकम्' विचारधारा हमारी संस्कृति का आधार बनी। भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य में मूल्य शिक्षा को आत्मसात् करने में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है।

मूल्य क्या है? यह प्रश्न अपने आप में मूल्यवान है, क्योंकि मूल्य का विचार मानव को स्वतः उस दृष्टि की ओर ले जाता है जो यह देखती है कि जीने के लिए किसका महत्व है। जो यह खोजती है कि व्यक्ति और समाज के लिए क्या कल्याणकारी है। प्रोफेसर अर्बन द्वारा "मूल्य वह है जो मानव इच्छा की तृप्ति करें जो व्यक्ति तथा उसकी जाति के संरक्षण में सहायक हो।" अंत में वे कहते हैं कि केवल वही परम रूप से और साध्य रूप से मूल्यवान है जो आत्माओं के विकास या आत्म साक्षात्कार की ओर ले जाए। इस प्रकार मूल्य वह सत्य है जिसके लिए व्यक्ति जीता है और आवश्यकता पड़ने पर वह संघर्ष करने, दुःख सहने तथा मृत्यु को भी स्वीकार करने के लिए तत्पर रहता है।

शिक्षा में मूल्यों की समस्या प्रत्येक पग पर हमें मिलती है। मूल्य शिक्षा के उद्देश्यों पर निर्भर होते हैं। "मूल्य शिक्षा ऐसी आचरण संहिता या सद्गुण है, जिससे व्यक्ति अपने निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु जीवन-पद्धति का निर्माण करता है तथा अपने

व्यक्तित्व का विकास करता है।" इसमें मनुष्य की धारणाएं, विचार, विश्वास, मनोवृत्ति, आस्था आदि समाहित हैं। ये मानव मूल्य एक ओर व्यक्ति के अंतःकरण द्वारा नियंत्रित होते हैं तो दूसरी ओर उसकी संस्कृति एवं परंपरा द्वारा क्रमशः निःसृत एवं परिपोषित होते हैं।

भारतीय संस्कृति की गौरवमयी परंपरा की अमूल्य धरोहर 'भारतीय संगीत' सृष्टि के उद्गम के समय से ही संपूर्ण विश्व की प्रत्येक गतिविधि में समाहित है। संगीत एक जीवनधारा, जो सृष्टि के चर-अचर में समस्त प्रकृति व जीवनधारियों में व्याप्त है। संगीत मानव के लिए भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से साधना का विषय है और भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। कला व संगीत ने भारत की सभ्यता से आस्था को जागृत किया। शक्ति अथवा दैव-प्रार्थना ने उसे सौन्दर्य व विचार से जोड़ दिया। भारत की सम्पन्नता से आकर्षित होकर अनेकों विदेशियों का यहां पर आगमन हुआ, जिनकी सभ्यता और संस्कृति का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभाव यहां के जन-जीवन व मानव की मूल्य शिक्षा पर पड़ा और भारतीय संगीत भी इस प्रभाव से वंचित न रह सका।

आज का मानव भूमंडलीकरण के युग में संशय की स्थिति में खड़ा है। वर्तमान में मूल्य शिक्षा क्या है? बीसवीं सदी के अंतिम चरण में मूल्य शिक्षा का चेहरा जितनी तीव्र गति से बदला है वह गति और परिवर्तन दोनों चौंकाने वाली बातें हैं। बदलते वक्त में परिवर्तन को आत्मसात् करना सहज प्रक्रिया है,

लेकिन सांस्कृतिक बदलाव का दौर पुरानी समृद्धि को ही निगलने लगे तो क्या कहेंगे।

नब्बे का दशक शुरू होने पर बाजार में खुलापन आया और भूमंडलीकरण शुरू हुआ जिसके साथ ही मानवीय उद्यम के कई क्षेत्रों में कला व मूल्यों का हास होने लगा। मनुष्य अत्यधिक स्वार्थी हो गया। मूल्यों का हास के लिए काफी हद तक जिम्मेदार है हमारा समाज, हमारी शिक्षा। क्योंकि कोई भी मनुष्य जन्मजात खराब नहीं होता, उसे वातावरण खराब बनाता है। जब मनुष्य छोटा होता है वह सबसे प्रेम करता है, उसका हृदय पवित्र होता है। उसमें जाति-पाति का भेदभाव नहीं होता। उसमें मानवीय मूल्य होते हैं। धीरे-धीरे जब वह बड़ा होता जाता है तो झूठ, स्वार्थ, लोभ, हिंसा, घृणा उसमें पनपने लगते हैं, वह इसके वशीभूत हो जाता है। हमारे व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय जीवन में तनाव के कारण दिन-प्रतिदिन घुटन बढ़ती जा रही है। परिवार में छोटे-बड़ों का आदर नहीं करते हैं। पति-पत्नी के संबंध तनावपूर्ण हैं। भाई-भाई से प्रेम नहीं करता, सामाजिक जीवन में सहयोग समाप्त होता जा रहा है। प्रदर्शन, घेराव, तोड़-फोड़, हिंसात्मक विद्रोह एवं आतंक हमारे जीवन में हर समय तनाव या भय पैदा करते रहते हैं। मानव जाति का स्वर्णिम युग समाप्त होता जा रहा है। हम निरंतर विनाश की ओर अग्रसर हो रहे हैं। व्यक्ति स्वार्थी, अवसरवादी, भोगी, चाटुकार एवं कर्तव्य-विमुख हो रहा है। ये सभी बातें मूल्यों का हास नहीं है तो और क्या है? भूमंडलीकरण में मूल्य इतने गिर गए हैं कि जीने का अर्थ ही बदल गया है।<sup>9</sup>

मूल्यों को कायम रखने के लिए सर्वप्रथम तो शिक्षा नीति में सुधार अपेक्षित है। भूमंडलीकरण में गिरते हुए मूल्यों को संगीत शिक्षा के माध्यम द्वारा उपर उठाना होगा। संगीत ही ऐसी कला है जिससे बच्चों में अनेक गुण का विकास सहज रूप से हो जाता है। एकता, बंधुत्व, करुणा, दया, भक्ति, मानवता, प्रेम, स्वदेश प्रेम, देशभक्ति आदि गुणों के अतिरिक्त अपने भावों को आत्मविश्वास के साथ अभिव्यक्त करने की क्षमता संगीत में होती है एवं

वर्तमान में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसके अंतर्गत शिष्य सत्य के आधार पर अहिंसा द्वारा प्रेमपूर्वक जीवन यापन करना सीखे। हमें ऐसा मनुष्य बनना है जो स्वयं स्वेच्छा से शाश्वत मूल्यों के पालन का प्रयास करे, जिससे व्यक्ति, समाज सभी का कल्याण संभव हो। इसके लिए संगीत शिक्षा द्वारा व्यक्ति की आत्मा को जागृत करना आवश्यक है, जिसके लिए अध्यात्म की आवश्यकता है, जो संगीत शिक्षा द्वारा ही संभव है। भूमंडलीकरण के दौर में विज्ञान अध्यात्म की जड़ें लगभग उखाड़ फेंकी है। मूल्य शिक्षा में अध्यात्म को भी स्थान दिया जाना चाहिए। तभी मूल्यों का धराशायी वृक्ष पुनः खड़ा हो सकता है। अन्यथा आज की शिक्षा के स्तर को देखते हुए भारतीय संस्कृति के मूल्यों का संरक्षण बहुत ही दुष्कर प्रतीत होता है।

संगीत मानवतावाद का पोषक है तथा संगीत से प्रेम, सहिष्णुता व विश्व-बंधुत्व की भावना का सहज ही विकास होता है। इसलिए विश्व का आतंकवाद की समस्या से उबारने तथा उपभोक्तावाद संस्कृति के कारण नई पीढ़ी में हुए नैतिक मूल्यों के हास की पूर्ति करने के लिए भारत अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सांगीतिक संबंध बनाकर जहां एक ओर नैतिक तथा मूल्यवान परंपराओं के निर्वाहन की शिक्षा रहा है, वहीं दूसरी ओर विश्व-शांति, विश्व-बंधुत्व एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की परिकल्पना को साकार रूप देने में भी प्रयासरत है।

'भारत में धर्म, पुनर्जन्म एवं मोक्ष आदि मूल्यों पर लोगों की गहरी आस्था है और इस दिशा में संगीत की भूमिका का काफी महत्व है। धार्मिक मूल्यों पर विचार करें तो वैदिक ऋचाएं व सामवेद के सारे सूत्र संगीतमय है। संगीत को ईश्वर प्राणिका सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ साधन माना है। देशभक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत गीतों को जब कलाकार गाता है तब वह सीधे मनुष्य के दिलों की गहराई उतर जाती है, जिससे देश-प्रेम की भावनाओं का विकास होता है। संगीत भावनाओं की सीमा से अंतर्राष्ट्रीय भाषा है आत्मा की भाषा और इसीलिए इसे एक मात्र ऐसे माध्यम के रूप में स्वीकारा गया है, जो संपूर्ण विश्व को एक सूत्र में पिरोता है।'

संगीत की तीनों विधाओं (गायन, वादन एवं मूल्य) के शिक्षक विद्यालय में आवश्यक रूप से हो, जिससे विद्यार्थी में नैसर्गिक क्रिया-कलापों, संस्कारों व मूल्य शिक्षा को पुष्पित पल्लवित होने का अवसर प्राप्त हो। संगीत कला का ज्ञान सुसंस्कृत व्यक्तित्व के गठन में परम सहायक है। आज संगीत की इस महत्वपूर्ण भूमिका को विस्मृत कर दिया गया है। उत्तर भारत के अधिकांश विद्यालय में बाल्यावस्था में भारतीय संगीत की सामान्य शिक्षा का प्रावधान नहीं है। विद्यालयों में संगीत की सामान्य शिक्षा के प्रावधान से कई लाभ होंगे, जिनमें सर्वोपरि यह होगा कि बच्चों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास संभव होगा, जिससे समाज सुसंस्कृत होगा और मानवीय मूल्यों का पतन जो आज दिखाई देता है वह उत्कृष्ट अभिरूचि के विकास के साथ कुछ सीमा तक नियंत्रित हो सकेगा।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि मूल्यों व मूल्य शिक्षा के गुणों के विकास में संगीत शिक्षा भिन्न-भिन्न चरणों में अहम और इन्द्रधनुषी भूमिकाओं का पूरी तरह निर्वाह करता है। आज भूमंडलीकरण के परिप्रेक्ष्य

में जीवन-मूल्यों, त्याग-तपस्या की भावना, समर्पण-भाव, सेवा-भावना, आदर्श-भावना, आज्ञा पालन, अध्ययनशील, कर्मठ, साधनारत शिष्य-समुदाय, छात्र वंश लता आदि मूल्य शिक्षा को हम संगीत की शिक्षा द्वारा ही आत्मसात् कर सकते हैं। प्लूटो ने कहा है- 'संगीत के माध्यम से आत्मा लय सीख जाती है। संगीत चरित्र बनाता है। उसमें धर्म की प्रवृत्ति आ जाती है और वह कभी अन्याय नहीं कर सकता। क्योंकि वह स्वर लहरी में बंधा होता है।'

### संदर्भ सूची :

1. संगीत पत्रिका, जुलाई 2010 पृ.सं.17
2. पाण्डेय डॉ. रामशुक्ल, उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, पृ.सं.-725
3. संगीत पत्रिका, अक्टूबर 2009 पृ.सं.-11
4. पाण्डेय डॉ. रामशुक्ल, उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, पृ.सं.-726
5. संगीत पत्रिका, जून 2009 पृ.सं.-05
6. मिश्र पं. विजयशंकर, तबला पुराण, पृ.सं.-212
7. संगीत पत्रिका अगस्त 2010 पृ.सं.-18-19

## राष्ट्रीय एकता और शास्त्रीय संगीत

डॉ. माधुरी कुमारी सि

संगीत जिज्ञा भावव को भावव से जोड़ती है। संगीत की भावनात्मक एकता एक समाज से दूसरे समाज को जोड़ती है। भारतीय समाज जब प्रभादी अतिवादी तत्वों की वासनाधवी शृष्णा से अपनी मर्घादा को बचाता रहा है तब तब संगीतमय समस्वरता से यहां का जन जीवन शक्तिपूर्ण सर्वांगीण विकास हेतु प्रयत्नशील रहा है, क्योंकि लय-ताल युक्त सांगीतिक समस्वरता के लिए सतत अभ्यास एवं अनुशासन आवश्यक पूर्ति है। भारतीय संगीत अपनी अभिव्यक्ति में समाज का एक्य प्रस्तुति है जिससे सामाजिक अनुशासन सामाजिक एकता तथा सामाजिक व्यवहार सम्बद्धित होते हैं। क्योंकि इसमें मानव मन को मोड़ने की क्षमता है। स्वाधीनता संग्राम के राष्ट्र नायकों ने हर सभा, हर अधिवेशनों में संगीत से ही समस्त राष्ट्र को एकिकृत किया था।

संगीत सत्यम् शिवम् सुन्दरम् है, अतः प्रत्येक धर्मावलम्बियों ने इसे अपनाया है। कोई भी ऐसा देश नहीं, जिनोंने संगीत को महत्व न दिया हो। अपने राष्ट्रीय एकता के प्रसारण में सदा संगीत का सहयोग लिया है। इनेक बड़े-बड़े मनीषियों ने समाज में एकता लाने के लिए संगीत का प्रयोग किया। आजादी के आंदोलन के समय प्रभात फेरियां लगाई जाती थी। वह संगीत के माध्यम से शक्तिपूर्ण एकता का प्रतीक था। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए संगीत समाज का एक महत्वपूर्ण विषय है। संगीत के द्वारा अनेक कार्यक्रम संपन्न होते हैं।

भारत के प्रधानमंत्री पीडित जवाहरलालनेहरू ने राष्ट्रीय एकता के स्वरूप बताते हुए कहा था 'निश्चय ही भारत के पहाड़, नदियां, वन तथा विस्तृत खेत

जिनसे हमें भोजन प्राप्त होता है, हमें सबसे प्यारे हैं। किंतु हमारे विशाल देश के कोने-कोने में बसे लोगों की सर्वांगीण है अतः भारत माता का अर्थ है देश के कोने-कोने जनता और देश की विजय का अर्थ है जनता की विजय। हम सभी भारत माता की संतान हैं। इस भावना से विकास से आंखों में राष्ट्रीय एकता की ज्योत लहराती है।'

संगीत राष्ट्रीय एकता का अति महत्वपूर्ण प्रभावशाली संवादक है। जहां शब्द की सीमा समाप्त है वहीं से संगीत की सीमा का आरंभ होता है। संगीत में जाति और धर्म का कोई स्थान नहीं है। संगीत सभी जाति और धर्म से उपर है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण हमारे पूर्व के<sup>2</sup> संगीतज्ञ महर्षि पं. विष्णुदिगम्बर पलुस्कर, विनायकराव पटवर्धन पं. ओमकारनाथ ठाकुर, उस्ताद फैयाज खां, अब्दुल करीम खां ये सभी संगीत महर्षि राष्ट्रीय एकता के प्रतीक स्तम्भ हैं।

प्राचीन युग से आज तक हर देश की सेना युद्ध के मोर्चों पर उत्साह वृद्धि के लिए संगीत का प्रयोग किया जाता है। संगीत के प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाते हैं लेकिन उससे होने वाले प्रभाव और उत्साह निहित सृजनात्मक तत्व नहीं बदलते। चारित्रिक उत्थान एवं वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए बुद्ध काल से ही संगीत को सर्वोत्तम साधन माना गया है। यदि हमें राष्ट्र के सांस्कृतिक स्तर को उन्नत करना है तो संगीत इसका सरल और सर्वोत्तम माध्यम बन सकता है। संगीत व्यक्ति को मानसिक पूर्णता देकर उसमें प्रसन्नता, सहृदयता और सद्भाव का संचार करता है।

हमारे देश में स्वर, राग, ताल और भाव को बहुत उंचा स्थान दिया गया है। भारत में प्रचलित संगीत हिन्दु, मुसलमान, ईसाई आदि का भेदभाव नहीं रखता। इसका<sup>3</sup> उदाहरण है मैहर के बाबा अल्लाउद्दीन खां साहेब जो मुसलमान होते हुए भी नित्य प्रति मां शारदा के मंदिर में जाकर ही अपना नित्य का कार्य आरंभ करते थे। इन्होंने कितने ही शिष्य बनाए जो हिन्दु थे और उन्होंने जी जान से ज्ञान का भंडार दिया। कहीं से भी कंजूसी नहीं की। रविशंकर, निखिल बनर्जी एवं पन्नालाल घोष ये सभी हिन्दु शिष्य थे जिन्हें बाबा से अपार ज्ञान मिला और उसका रूप उन्होंने संसार में प्रसिद्ध होकर दिखा दिया। बाबा के जीवन में कौमी एकता का एक अनूठा रूप देखा जा सकता है तथा उसकी भावना से शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। उन्होंने अपनी पुत्री का नाम हिन्दी में रखा, उन्होंने हिन्दु शिष्य पं. रविशंकर से उसका विवाह बिना किसी भेदभाव से किया। अपने पोते का नाम हिन्दु मुस्लिम एकता का ज्वलंत उदाहरण ध्यानेष खां, और आशीष खां रखा। उनके पूजागृह में श्रीराम, हनुमानजी और रामकृष्ण परमहंस के चित्र लगे रहते थे। यह सब देख पढ़कर आपको लग ही नहीं सकता कि संगीत में कहीं भी भेदभाव होगा।

संगीत वास्तव में महान है। संगीतकार तो केवल स्वरों में लीन रहता है। स्व. बड़े गुलाम अली खां किसी भी भेदभाव के बिना गाते थे। बंदिश में हिन्दु देवी देवता के नामों को उसी भाव से गाते थे जिस प्रकार अपने पैगंबर के लिए गाते, इसका उदाहरण है राग मालकौंस में सुदामा मन्दर देख डरे। रहीमउद्दीन डागर तो अपना गायन यानी ध्रुपद का अलाप ही हरि ओम, अनन्त, ओंकार आदि शब्दों से आरंभ करते थे, और उसके बाद जो ध्रुपद गाते थे वह या तो भगवान कृष्ण पर या शिवजी पर आधारित होता था। उस्ताद नसीर जहीरउद्दीन डागर और उस्ताद फैयाजउद्दीन डागर गाते हैं, “मानुष हों तो वही रसखान।” यह बृजभाषा का ध्रुपद है। इस प्रकार गीत गाने में उनको कभी यह भावना नहीं आती कि वह हिन्दु संस्कृति का वर्णन कर रहे हैं। दक्षिण के संगीत-सम्राट महाकवि त्यागराज ने “प्रलाद विजयम्” नाटक में तुलसीदास की वंदना की है।

सदारंग अदारंग ने हजारों बंदिशें बनाई हैं। उन बंदिशों को प्रत्येक संगीतकार गाता है। उस समय वह यह नहीं सोचता कि इस गीत को किसने बनाया वह हिन्दु था या मुसलमान या उस बंदिश में श्री राम का वर्णन है या रहीम का, श्री कृष्ण की लीला है, गायक केवल गाने से मतलब रखता है।

सांप्रदायिक एकता संगीत में पूर्ण रूप से दिखाई देती है। संगीत सम्मेलनों में यह सब एकता मंच पर देखते ही बनती है। गायक हिन्दु, सारंगी वादक मुसलमान तथा तबला वादक नामधारी। इस प्रकार विभिन्न धर्मों का मानने वाले एक ही मंच पर बैठकर एक साथ स्वर का रसास्वादन करते हैं। उनके सामने बैठे अनेक संगीत रसिक मंत्रमुग्ध होकर एकता के सूत्र में बंध जाते हैं।

ऐसी अनेक बंदिशें हैं जो हिन्दु ने रची पर वर्णन रहीम करीम का है। मुसलमानों ने रचना की तो श्री कृष्ण की बालाओं का वर्णन किया। संगीत, धर्म, मजहब, देश, जाति, वर्ण, भाषा सबसे उपर एकता का परम प्रतीक है। आज भारत में राष्ट्रीय एकता बनाए रखने का समय है। भारत में कहीं भाषायी, कहीं क्षेत्रीय वाद विवाद रहते हैं। ऐसे में संगीत सबसे उपर उठकर एकता का संदेश देता है। संगीत प्राचीन विशाल का स्मरण कराता है। गांधार राग आज अफगानिस्तान के कंदहार की देन है। राग जौनपुरी का अर्थ यह नहीं कि वह केवल जौनपुर में ही गाया जाएगा, या मुलतानी राग मुलतान की धरोहर हो गयी। ऐसे राग सभी लोग गाते हैं और पूर्ण भारत में गाए जाते हैं। जाति परक राग जैसे अहीर भैरव, नट, गुर्जरी तौड़ी यह सभी जाति से जुड़े नहीं हैं। भारत का प्रत्येक गवैया बजैया गाता बजाता है। ऐसे अनेक राग हैं जो जाति को दर्शाते हैं और जो स्थान विशेष के नाम पर हैं। य सभी सबसे उपर उठके राष्ट्रीय एकता के प्रतीक हैं।

### संदर्भ सूची :

1. इंडियन यूनिटी, जवाहरलाल नेहरू का भाषण, पृ. 121
2. भार्गव डॉ. सत्या, राष्ट्रीय एकता में संगीत, पृ. 134
3. भार्गव डॉ. सत्या, राष्ट्रीय एकता में संगीत, पृ. 135

## भक्ति पदों में संगीत तत्त्व

डॉ. लालति कुमारी

मानव जीवन के लक्ष्य एवं असीम आनन्द की प्राप्ति के लिए मन, वचन एवं कर्म से भगवान की भक्ति आवश्यक है। जब मनुष्य समर्पण की भावना से भगवान के प्रति अनन्य प्रेम-प्रलाप करता है तो वही भक्ति कहलाती है। भक्ति नौ प्रकार की बताई गई है, जिसमें से भगवान के गुणों का गान सहज और श्रेष्ठ है। गान से अधिक संवेदनशील होने पर माधुर्य भाव अथवा सत्व का उद्रेक होता है।

विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन से विदित होता है कि आजतक अनेक ऐसे महान संत हुए हैं जिन्होंने संगीत के माध्यम से भगवान का नाम जपकर भगवत्कृपा के पात्र हुए हैं। “भगवान का प्रत्येक नाम एक मंत्र है स्वर और लय के आधार से मंत्र की शब्द या चेतन शक्ति जाग्रत रहती है। वल्लभ चैतन्य, सूर, मीरा, तुलसी, पुरंदरदास, त्यागराज, तुकाराम, नरसी, गोरख, हरिदास, जयदेव, विद्यापति, धर्मदास, नानक, मलूकदास, सहजोबाई, दयाबाई, इत्यादि संत-भक्तों ने स्वर और शब्द की चेतन-शक्ति से ही भगवान् का अनन्य प्रेम उपलब्ध किया तथा जगत् को सत्य का संदेश दिया”<sup>1</sup>

भारतीय संगीत की उत्पत्ति के संबंध में दृक्पात करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय संगीत में भक्ति तत्व कूट-कूट कर भरा हुआ है। “संगीत की उत्पत्ति आरंभ में वेदों के निर्माता ब्रह्मा द्वारा हुई। ब्रह्मा ने यह कला शिव को दी और शिव के द्वारा सरस्वती को प्राप्त हुई। सरस्वती को इसीलिए ‘वीणा-पुस्तक-धारिणी’ कहकर संगीत और साहित्य की अधिष्ठात्री माना गया है। सरस्वती से संगीत कला का ज्ञान नारद को प्राप्त हुआ, नारद ने स्वर्ग

के गन्धर्व, किन्नर, तथा अप्सराओं को संगीत शिक्षा दी वहां से ही भरत, नारद और हनुमान आदि ऋषि संगीत-कला में पारंगत होकर भू-लोक पर संगीत कला के प्राचार्य अवतीर्ण हुए। ‘संगीत दर्पण’ के लेखक दामोदर पंडित (सन् 1625) के मतानुसार संगीत की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई। अपने मत की पुष्टि करते हुए उन्होंने लिखा है :-

द्रुहिणेत् यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च।

महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गारव्य विमुलदम्।<sup>2</sup>

“कुछ विद्वानों के मतानुसार संगीत का जन्म ओम् से हुआ है। ओम् में अ, उ, म ये तीन अक्षर हैं। इस प्रणव (ओम्) में तीन गुणों की शक्ति है, इसी कारण प्रणव को ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत तीनों स्वरों की सहायता से ही उच्चरित किया जा सकता है। वेदों में वर्णन आया है कि ओंकार से ही स्वर बने हैं।”<sup>3</sup>

भजन उस काव्य को कहा जाता है जो भक्ति परक हो। छंद और स्वर की दृष्टि से भक्ति गीत के लिए कोई बंधन नहीं है, फिर भी गेय पद स्वर, राग एवं ताल से विभूषित होकर जब प्रस्तुत किए जाते हैं, तो उनसे जो रस की अजस्र धारा बहती है वह अनिर्वचनीय होती है। इष्ट देव के रूप और गुण का कीर्तन, वंदन भक्ति पद में होता है। ‘कीर्तन’ सगुण और निर्गुण, दोनों उपासनाओं के लिए आलंबन रहा है। बल्लभ-संप्रदाय ने भक्ति-गीतों के स्थान पर कीर्तन को अधिक महत्व दिया, क्योंकि शिक्षित तथा अशिक्षित, किसी भी वर्ग के कितने भी विस्तृत समुदाय के लिए उसमें भाग लेना संभव है। पद के

शब्द उच्चारण, राग एवं ताल इत्यादि में पारंगत होना कीर्तनकार के लिए आवश्यक नहीं, वहां सरल स्वरोच्चारण एवं समर्पण की भावना से ही व्यक्ति को परम संतोष हो जाता है।

गीत को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का साधन बताया गया है। भक्ति परक पद शास्त्रीय संगीत की ध्रुवपद पद्धति के जनक है। इससे पूर्व स्तोत्र गान (ईश्वरपरक स्तुति गान) ने प्रबंध गान को पुष्ट किया था। इन सबका आदि रूप सामगान वस्तुतः स्तोत्र पाठ का ही गेय रूप था। अतः आज भी भक्तिगान के माध्यम से नाद के बाह्य रूप का चेतना के साथ सम्बन्ध स्थापित करना संभव है। महाकवि सूरदास रचित अनेकों ऐसे भक्ति पद्य हैं जो संगीत के सूर, ताल से परिपूर्ण हैं।

‘मीरा’ भक्त थी और उनकी, भक्ति का माध्यम था, कीर्तन या भजन। उनको जो अनुभव अपने हृदय में मिलता था, उसे वे अपने काव्य में निबद्ध करती थी और उचित समय पर उसको अपने आत्मानंद के लिए नृत्य या गायन द्वारा प्रकट करती थी। गीतिकाव्य में भावों के द्वारा अभिव्यक्ति तथा उत्कर्ष प्रकट होता है। सीधे सरल और अपने हृदय से बिना अनायास जो शब्द काव्य-रूप से प्रकट होता है, वह आकर्षक रहता है।”<sup>3</sup>

तुलसीदास, कबीरदास, सूरदास इन्होंने भक्तिकाव्य लिखा। वे स्वयं गायक भी थे जब सूरदास मरणासन्न अवस्था में पहुंच गए तो इनके दर्शन के लिए आचार्य विट्ठलनाथ के साथ अन्य संत कविगण भी गए, चतुर्भुजदास ने सूरदास से पूछा कि पुष्टिमार्ग का स्वरूप कैसा है? इस पर इन्होंने केदार राग में यह पद गाया -

भजि सखि, भाव-भावक-भेव।

कोटि साधन करो छोड, तउ न माने सेव।।

वेद-विधि को नेम नाहि, न प्रीत की पहचान।।

ब्रज बधू बस कियो मोहन, सूर चतुर सुजान।।

भक्ति के प्रकार - ‘नारद भक्ति सूत्र’ के अनुसार, भक्ति के एकादस प्रकार हैं- 1. गुण महात्म्या सक्ति, 2. रूपासक्ति 3. पूजासक्ति 4. स्मरणसक्ति 5. दास्यासक्ति 6. सख्यासक्ति 7. कातांसक्ति

8. वात्सल्यासक्ति 9. निवेदनासक्ति 10. तन्मयतासक्ति 11. परम विरहासक्ति

सूरदास ने अपने पदों के माध्यम से भक्ति का प्रचार किया है, जो ‘सूर सागर’ में स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। इस मार्ग के अनुसार भगवान को सर्वदा सर्वभाव से भजनीय माना गया है।<sup>6</sup>

इसी तरह वाल्मीकि रामायण में यह प्रसंग आया है कि “रामायण” के उद्भव का हेतु ही करुण संगीत की स्वरधारा है। व्याध द्वारा क्राँच वध के हृदयद्रावक दृश्य को देखकर महर्षि वाल्मीकि के हृदय से जो शोकोद्गार आठ अक्षरों वाले सम वर्णवृत ‘अनुष्टुप’ या ‘श्लोक’ के रूप में फूट पड़ा था, वह एक गेय नियमबद्ध रचना ही थी-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्व। 8 वर्ण

मगमः शाश्वतीः समाः। 8 वर्ण

यतक्रौंच मिथुनादेक। 8 वर्ण

मवधीः काममोहितम्। 8 वर्ण

(हे व्याध! तुझे अनंतकाल तक कभी शांति न मिले; क्योंकि तूने क्राँच पक्षियों के इस जोड़े में से एक अनुरागी साथी को निरपराध मार डाला है) रागात्मकता से सहज निरापन्त इस श्लोक की संगीतात्मकता को महर्षि ने अपने एक शिष्य को समझाते हुए कहा-

पादबद्धोक्षर समस्तत्रीलयसमन्वितः

शोकार्तस्य प्रवृत्तो में श्लोको भवतु नान्यथा।।

‘गीत’ को धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का साधन बताया गया है। भक्ति गीत प्रेय के द्वारा श्रेय को उपलब्ध कराने में अद्वितीय है भक्तिपरक पद या विष्णुपद शास्त्रीय संगीत की ध्रुवपद पद्धति के जनक है। इससे पूर्व स्तोत्र-गान ने प्रबंध-गान को पुष्ट किया था। भाषा की अपेक्षा नाद का प्रभाव क्षेत्र अधिक व्यापक होने के कारण भक्तिपरक शब्दों को सस्वर प्रस्तुत करने से बच्चों से लेकर जवान, बूढ़े सभी पर इसका प्रभाव पड़ता है। मंदिरों में भगवान की आरती के समय जब एक साथ शंख घड़ियाल और घंटों की आवाज गूंजती है तो सभी प्राणी उससे प्रभावित हो जाते हैं।

भक्ति काव्यों के कुछ प्रकार ऐसे भी प्रचार में आए हैं, जिन्हें लोकधुनों का आश्रय प्राप्त हो जाने से वे साधारण जीवन और हिन्दू संस्कृति का अंग बन गए हैं। दैनिक जीवन में राग-द्वेष तथा हर्ष शोक के भाव प्रायः किसी न किसी क्षण में आते ही रहते हैं, जिससे मानव मन विचलित होता रहता है। इस अवस्था से मुक्ति पाने के लिए भक्ति-गान और भक्ति-नृत्य से बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। 'द्वारिका-माहात्म्य' में लिखा है कि जो प्रसन्न चित्त से श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भावों सहित नृत्य करते हैं, वे जन्म-जन्मांतरों के पापों से मुक्ति पा लेते हैं।

भक्ति-गीत, पवित्र, वंदनीय तथा अलौकिक शक्ति सम्पन्न होते हैं। भक्ति-काव्य में सत्य, शिवा और सौन्दर्य का अद्भुत समन्वय है।

इस प्रकार कुल मिलाकर देखा जाए तो भारतीय संगीत का भंडार अपार भक्ति तत्व से भरा पड़ा है।

### संदर्भ सूची :

1. गर्ग लक्ष्मी नारायण, निबन्ध संगीत
2. वसन्त, संगीत विशारद
3. शर्मा डॉ. मृत्युंजय, संगीत मैनुअल
4. 'संगीत' शिक्षा अंक-1988

## संगीत और गणित का संबंध

जय सेवक

सुनते या पढ़ते अजीब लगता है कि संगीत और गणित के बीच कोई संबंध हो सकता है? लेकिन यह सच है कि दोनों के बीच संबंध ही नहीं किन्तु सुसंबंध है। भले ही गणित शुष्क निर्दयी और अनुभूतिहीन विषय हो। जबकि संगीत उर्मि और चेतनाओं का विषय है। यह सब जानते हैं, किन्तु हां इस की बात और है। ऐसा हो सकता है कि गणित में 'रस' हो और संगीत में न हो, लेकिन ऐसा कम होता है कि गणित में रस हो और संगीत में न हो। क्योंकि हमेशा इससे उल्टा ही देखने को मिलेगा। कारण उपरोक्त है गणित शुष्क, निर्दयी और संगीत उर्मि, चेतना इत्यादि।

### संगीत यानी गीतं वाद्यं च नृत्यं

यानि इन तीनों कलाओं को या इन तीनों के समन्वय को संगीत कहते हैं। इस बात से हम सब जानते हैं यह विषय एक अनुशासीत निश्चित लय के अधीन है। बिना लय का संगीत नहीं कहलाता। ठीक इसी तरह आवाज की ध्वनि नियमित कम्पन से ही संगीतोपयोगी बनती है। नाद यानी संगीतोपयोगी ध्वनि या तो वो आवाज जो कर्णप्रिय हो। इस तरह नये रिदम की नियमितता, ध्वनि कम्पन की नियमितता गणित में जरूरी है उतनी ही नियमितता संगीत में भी जरूरी है। अतः इन दोनों विषयों में नियमितता सामान्य है। इस नियमितता को संगीत की भाषा में लय कहते हैं और यह लय गणित है।

जैसा कि हम जानते हैं कि लय के तीन प्रकार हैं। विलंबित, मध्य और द्रुत। इन तीनों में मध्यलय

यानी सामान्यतः मानव की उर्मि चेतनाओं के अधीन रहती है। उसे लय कहते हैं। हालांकि शास्त्रेक्त व्याख्या कुछ अलग है। यह लय हर एक व्यक्ति की अलग-अलग होती है। क्योंकि हर एक व्यक्ति के तन और मन के आधारित होती है। यथा कोई व्यक्ति का स्वभाव शांत, किसी का चंचल तो किसी का क्रोधित। ऐसी व्यक्ति के सहज स्वभाव के अधीन जो सर्वसामान्य लय निर्धारित होती है उसे मध्यलय कहते हैं। जो हर एक व्यक्ति की अलग-अलग होती है। इस मध्यलय की आधी गति को विलंबित लय कहते हैं और इसी मध्यलय की दुगुनी गति को द्रुत लय कहते हैं। यहां हम लय को गति या चमक कहेंगे। इस तरह ही मध्यलय और सामान्य गति की लय, विलंबित यानी मध्यलय की आधी गति की लय, और मध्यलय की दुगुनी गति की लय को द्रुत कहा जाता है। जैसे गणित की भाषा में आधी गति यानी मध्यलय और आधी की आधी लय याने विलंबित लय कहा जाता है।

यह तो हुई लय की बात। कोई इसी तरह आवाज भी नियमित कम्पन से हवा के माध्यम से उत्पन्न होती है। जैसे कि मानव शरीर के गले में ईश्वर की बिठाई हुई स्वरपेटी एक दूसरे स्नायु के घर्षण से और हवा से बजते ही आवाज उत्पन्न होती है। इसी तरह सूषिर वाद्यों में भी हवा के द्वारा वाद्यों के छिद्रों में से नियमित कम्पनयुक्त आवाज निकलती है। तंतु वाद्यों में आघात के द्वारा नियमित कम्पन युक्त आवाज उत्पन्न होती है ऐसे ही धन वाद्यों में और अवनध वाद्यों में भी हवा या डंडी के आघात

द्वारा 'नाद' उत्पन्न होता है। जिसे हम 'संगीत उपयोगी ध्वनि' के नाम से जानते हैं। नाद की तारता, नाद का गुण, नाद का छोटा-बड़ापन, नाद का ऊंचा-नीचापन यह सारी बातें नियमित होने की वजह से आवाज, ध्वनि या नाद संगीत उपयोगी होता है। जो संपूर्ण तथा गणित ही है। इस तरह गले में से निकलती हुई आवाज आघात से बजनेवाले वाद्यों और फूंक से बजनेवाले वाद्यों नियमित कंपनयुक्त हो तभी वो संगीत से अटूट संबंध रखता है।

संगीत का तो गणित से संबंध है ही ठीक ऐसे ही गणित को भी संगीत से संबंध है। जिसका एक ही उदाहरण काफी है। यथा गणितज्ञों के संशोधन अनुसार पियानो बजानेवाले बच्चे हमेशा ताकिक शक्ति से अनुमान लगाने में कुशल होते हैं। वह बच्चा चेस खेलने में, पझल बनाने में, या ब्लॉक बनाने में महारत हासिल कर सकते हैं। इतना ही

नहीं वह बच्चा गणितिक अनुमानों को आचरण करने में उनकी ताकिक शक्ति काफी हद तक अच्छे तरीके से उपयोग कर सकते हैं। अतः गणित जैसे विषय में अच्छी तरह से अपना प्रदर्शन कर सकता है। तो यह कोई पियानो बजाते बच्चों की जो कि संगीत से जुड़ा है ठीक सी तरह परदेवाले हर एक भारतीय वाद्य जैसे की वीणा, सितार इत्यादि वाद्यों में भी यही गुण पाए जाते हैं। इसके अलावा हार्मोनियम और पाश्चात्य वाद्यों में गिटार के शौकिन लोगों की भी तक्रशक्ति विशिष्ट होती है। जो पूर्ण तरीके से गणितिक विषय है।

अतः गणित का भी संगीत से और संगीत का भी गणित से गहरा संबंध है। भले ही दोनों विषय एक दूसरे से भिन्न है। दोनों विषयों में एक दूसरे की जरूरत दृष्टिगोचर होती है।

## संगीत की पीड़ा

डॉ. अभय दूबे

गीताकार ने गीता में अपने को वेदों में सामवेद कहा है।

*'वेदानां सामवेदोऽस्मि'*

सामवेद में भी संगीत ही है, पर उसमें पवित्र उद्देश्य और आदर्शों का समावेश है इसलिए उस संगीत को वंदनीय और उपयोगी कहा गया है।

स्वरयोग की साधना-शब्द ब्रह्म का अभ्यास वस्तुतः एक साधना है, जिसका सहारा ले कर मनुष्य अपने भीतर के 'सुंदर' को ही नहीं 'शिव' और 'सत्य' को भी उल्लासित कर सकता है, और उस आंतरिक प्यास को बुझा सकता है जिसकी लालसा से उसे विविध कामनायें और प्रवृत्तियाँ अपनाती पड़ती हैं। संगीत के योगसूत्र में यही स्पष्ट किया गया है कि योग साधना के अनेक प्रकारों में नादयोग की स्वर साधना का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

प्राचीन समय में मनीषियों ने लय और ताल का समन्वय करके मनुष्य के अंतरंगों की स्वरवीणा को झंकृत करने का उपक्रम किया था। संगीत किसी समय ईश्वर की उपासना का ही एक माध्यम था। सुनाने वालों में वह आत्मोल्लास जगाता था, और उसे कुत्सा से उठाकर शिखर पर प्रतिष्ठित करता था। अपनी इसी विशेषता के कारण संगीत लोकश्रद्धा का माध्यम रहा, संतों ने उसे प्राणप्रिया माना और संगीत के सहारे लक्ष्यपूर्ति में सफल हुए। सामगान के दिव्यदर्शियों से लेकर देवर्षि नारद तक और अन्ततः वह पवित्र धारा अनेक संत साधकों में प्रवाहित होती हुई हरिदास एवं तानसेन तक चली आयी। यदि यह प्रवाह यथाक्रम चलता रहता और अपना स्तर यथा स्थान बनाये रहता तो उसकी

भावनात्मक महानता की स्थिति उत्कृष्ट स्थिति में ही बनी रहती। दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि पतन के सर्वभक्षी आक्रमण से संगीत भी बच नहीं सका। संगीत योगाभ्यास से नीचे उतरा और कला बना। इससे भी नीचे गिरा तो नटविद्या मात्र बन कर रह गया है। आज संगीत इसी दयनीय दुर्दशा की स्थिति में पड़ा है।

संगीत को कला इसलिए बनना पड़ा कि वह लोकरूचि के पीछे चल कर आजीविका और प्रशंसा का माध्यम बन सके। यहां तक भी गनीमत थी। अन्य व्यवसायों की तरह संगीत भी किन्हीं पेशेवरों का पेशा रहे तो उन्हें व्यावहारिक जीवन की एक आवश्यकता मान कर गायकों और वादकों को साधक तो नहीं पर श्रमजीवी कहा जा सकता था। दुखद स्थिति तो तब हुई जब संगीत साधना तो दूर कला भी नहीं रही। संगीत कुत्साओं के हाथ का खिलौना बनकर व्यसनी और व्याभिचारियों की तुष्टि पुष्टि के काम आनेवाला एक नशा भर बन कर रह गया। सामन्तों और अमीरों की पशु प्रवृत्ति को अधिकाधिक उत्तेजित करने और उनके पशु को अधिकाधिक उग्र बनने भर के लिए जब संगीत ने अपनी आत्मा को बेच दिया तो उस तत्वदर्शी की आत्मा बिलख बिलख कर रोई होगी जिसने स्वर विज्ञान द्वारा नर को नारायण बनाने के सपने देखे होंगे।

मध्यकाल में संगीत को उन्हीं के यहां आश्रय मिलता था। जनता की कुरूचि के बीच भी उसे स्थान मिला। इससे संगीत को धन और सुविधा तो मिले सस्ती बाहवाही भी हाथ लगी पर इसके लिए उसे महंगा मूल्य चुकाना पड़ा। पीर को बाबर्ची बन जाना एक दुखद प्रसंग है। पुरोहित का यह पतन

लौकिक रूप में भले ही सुविधाजनक हो पर स्तर में आसमान से पाताल में जा गिरने जैसी यह दुर्दशा हर दृष्टि से लज्जास्पद और दुर्भाग्यपूर्ण मानी जाएगी।

भारतीय समाज में भगवद्भक्ति को मनुष्य में देवत्व जागरण का अविच्छिन्न अवलम्ब माना जाता रहा है। इस प्रकार संतों, ब्राह्मणों, मनीषियों धर्मोपदेशकों को भूसुर कह कर उनकी चरणधूलि मस्तक पर लगाने की परंपरा रही है। संगीतकार इसी पंक्ति में बैठता था उसकी गणना इसी वर्ग में की जाती थी। स्वर साधक को योगसाधकों के बीच ही माना जाता था।

आजकल कामुकता भड़काने वाली दुष्प्रवृत्ति का ही दूसरा नाम संगीत बन गया है। स्वर साधना अब कला भी नहीं रही वह नटिनी, नर्तकी, गायकी है। संगीत को साधकों के पास ही रहने देना चाहिए, बुरी इच्छाओं के खिलवाड़ के लिए संगीत का प्रयुक्त किया जाना जनजीवन को विषपान ही करा सकता है। कामुकता एवं बुरी इच्छाएं भड़काने जैसे खराब प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया गया स्वर कितना अहितकर होता है इसकी एक कथा पुराणों में आती है। त्वष्टा ऋषि ने ऋचा का उच्चारण करने में भूल की उसका अवांछनीय रूप से दुरुपयोग किया इसका फल बड़ा विपरीत निकला। त्वष्टा ने जिस दुष्प्रयोजन के लिए उच्चारण किया था वह तो पूरा न हुआ वरन् वृत्रासुर नामक एक विकट दैत्य बन कर खड़ा हो गया और उसने भयंकर विभीषिकाएं पैदा कर दी। आज समाज में संगीत के दुरुपयोग ने ऐसी ही अवांछनीय परिस्थितियां पैदा की है।

पतनोन्मुख वासना प्रिय विलासी संगीत को भारतीय धर्मग्रंथों में भी घृणित एवं त्याज्य घोषित किया है। पुराणों में राजा ययाति के महान व्यक्तित्व और आदर्श राज्य का वर्णन आता है। साथ ही उनके पतन का कारण नीति वाद्य में रुचि लेने लगना भी बताया गया है। कामुक, गीत, वाद्य, नृत्य हास विलास में राजा ययाति का मन मोहित हो गया और वे अपनी गरिमा खो बैठे।

सत्संगीत पर इस प्रकार के आक्षेप नहीं है। अच्छे उद्देश्य के लिए प्रयुक्त संगीत की महत्ता भी विद्वानों ने बताई है।

1. संगीत से आत्मा की मलिनता धुलती है।  
आवेर केच
2. गहराई में उतरो तुम्हें हर पदार्थ के अंतरंग में एक दिव्य संगीत उभरता दिखाई देगा।  
कार्लोईत
3. संगीत आत्मा के ताप को शांत कर सकता है।  
महात्मा गांधी
4. संगीत में क्रूर हृदय को भी कोमल बनाने वाला जादू भरा पड़ा है।  
जेम्सवाटसन
5. संगीत मानव की विश्वभाषा है।  
लांग फेलो
6. संगीत के पीछे-पीछे खुदा चलता है।  
शेखसादी
7. संगीत टूटे हुए हृदय की औषधि है।  
ए.हन्ट
8. संसार मुझसे चित्रों में बात करता है-मेरी आत्मा उसका उत्तर संगीत में देती है।  
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

संगीत अपने मूल उद्देश्य को पूरा कर सके, अपने सनातन स्वरूप को स्थिर रख सकें, इसके लिए हमें पूरा प्रयत्न करना चाहिए। हमें याद रखना चाहिए कि संगीत की उपयोगिता तभी है जब उसे उच्च उद्देश्य के लिए प्रयुक्त किया जाए।

महात्मा गांधी के संस्मरणों पर प्रकाश डालने वाली मनु बहिन की डायरी में एक स्थान पर बापू का कथन छपा है, जिसमें उन्होंने कहा था-नृत्य कला के प्रति मेरे मन में आदर है। संगीत मुझे बहुत प्रिय है, लेकिन जिन गीत वाद्यों ने लोगों के मन विकृत कर दिये हैं उन पर तो रोक लगाना ही पड़ेगा।

संगीत की शक्तियां असाधारण हैं उनका दुरुपयोग करके जनमानस और समाज को दिग्भ्रमित किया जा सकता है। और लोगों को कल्याण की दिशा में भी अग्रसर किया जा सकता है। हमें चाहिए कि स्वयं भी संगीत शक्ति का लाभ ले और समाज को भी इसका सुख दें।

# दक्षिण संगीत पद्धति के परिप्रेक्ष्य में स्वरलिपि अंकन

आरती मिश्रा

संगीत के स्वरलिपि का अंकन प्राचीन काल से ही माना जाता है। ठाकुर जयदेव सिंह जी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संगीत का इतिहास' में प्राचीन स्वरलिपि का विस्तार से उल्लेख किया है जहाँ उन्होंने माना है कि साम की स्वरलिपि संसार की सबसे प्राचीन स्वरलिपियों में से है।

प्राचीन समय में एक ही स्वरलिपि थी परन्तु 'संगीत मकरंद' ग्रन्थ में ऐसा वर्णित है कि 8वीं शताब्दी में ये दोनों पद्धतियाँ अलग-अलग होने लगी तथा भारतीय संगीत का दो शाखाओं में विभाजन हो गया, इनके लिए भरत एवं शारंगदेव के ग्रन्थ आधारभूत है, ग्यारहवीं शताब्दी में पठानों के आगमन से भारतीय संगीत में एक विशेष परिवर्तन हुआ। दक्षिण भारत इन आक्रमणों से बचता रहा। 12वीं शताब्दी में ये स्थूल रूप से अलग हो गई।

13वीं शताब्दी का काल संगीत की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। इसी समय से भारतीय संगीत का "हिन्दुस्तानी (उत्तरी) तथा कर्नाटकी (दक्षिणी) प्रणालियों में विभाजन हो गया।

रामामात्य कृत "स्वरमेल कलानिधि" (जिसकी रचना सन् 1550 के लगभग हुई) की गणना दक्षिणात्य पद्धति के आधारभूत ग्रन्थों में की जाती है, दक्षिण संगीतज्ञों का यह कथन उचित है कि उन्होंने अपनी संगीत पद्धति को प्राचीन ग्रन्थों से सम्बद्ध रखा है।

इसके उपरान्त रामामात्य ने 22 श्रुतियों 7 शुद्ध स्वरों का वर्णन किया है। प्राचीन विभाजन के अनुसार ही उन्होंने श्रुति स्वर को विभक्त किया है। वे सात शुद्ध और सात विकृत स्वर मानते हैं। इनके संगीत

की यही उपयोगिता है कि वह अपने कुछ विचारों को शारंगदेव से संयुक्त करने का प्रयत्न करते हैं -

रामामात्य के चौदह स्वर निम्नवत् है-

1. शुद्ध षड्ज
2. शुद्ध ऋषभ
3. शुद्ध गांधार या पंचश्रुति ऋषभ
4. अन्तर गांधार
5. च्युत मध्यम गांधार
6. शुद्ध मध्यम
7. च्युत पंचम मध्यम
8. शुद्ध पंचम
9. शुद्ध धैवत
10. शुद्ध निषाद या पंचश्रुति धैवत
11. कैपिक निषाद या षट्श्रुति धैवत
12. काकली निषाद
13. च्युत षड्ज निषाद

दक्षिण संगीत की स्वर लिपि पद्धति:-

सप्तक के चिह्न:- दक्षिणी पद्धति में मध्य सप्तक के स्वरों के लिए कोई चिह्न नहीं होता, मन्द्र सप्तक के स्वरों को दर्शाने के लिए स्वरों के नीचे एक बिन्दु लगा देते हैं तार सप्तक के लिए स्वरों के ऊपर एक बिन्दु लगाते हैं, अतिमन्द्र या अतितार सप्तक (अतिमन्द्र को अनुमद्रं भी कहते हैं) को दर्शाने के लिए दो बिन्दु लगाए जाते हैं।

अनुमन्द्र सप्तक  
 रे. म.  
 मन्द्र सप्तक  
 ग प  
 मध्य सप्तक  
 रे ग  
 तार सप्तक  
 रें सां  
 अतितार सप्तक  
 रें सां

**शुद्ध या विकृत स्वर:-** दक्षिण संगीत में बंदीश को स्वरलिपि से पहले राग का नाम आरोह, अवरोह, ताल का नाम तथा मेल का नाम दिया होता है। हर जन्य राग में उसी से संबंधित मेल में लगने वाले स्वर होते हैं अतः अलग से स्वरों को विकृत करने के चिह्न नहीं होते हैं। जैसे अगर किसी मेल में 'रे' कोमल हो तो उसके मेलकर्ता में 'रे' कोमल ही होगा। उस मेल से उत्पन्न हर राग में 'रे' कोमल ही होगा। अतः अलग से चिह्न की आवश्यकता नहीं होती परन्तु कभी-कभी किसी रचना में ऐसा स्वर भी आ सकता है जो उस मेल में नहीं हो। ऐसे में इस स्वर को फूल के चिह्न से दर्शाते हैं। जैसे किसी राग में चतुःश्रुतिक 'ध' का प्रयोग करना है पर यह उस मेल का नहीं है ऐसी दशा में इस ध के ऊपर फूल का चिह्न लगा देते हैं। जैसे- ध'।

**योजक चिह्न:-** योजक चिह्न (-) विश्राम को दर्शाता है। जैसे म प ग म- म प ध प। इसका अर्थ यह हुआ कि म प ग म को बिना रुके लगातार गाना है तथा म प ध प को भी बिना रुके लगातार गाना है, परन्तु '-' इस योजक चिह्न के स्थान पर रुकना है। अर्थात् म प ग म गाकर थोड़ा रुकेंगे तत्पश्चात् म प ध प गायेंगे।

**गीत के बोल लम्बे करने के लिए:-** नीचे बिन्दु लगने से यह ज्ञात होते हैं कि गीत के बोलों को लम्बा करना है जितने बिन्दु होंगे उतने अक्षर काल तक गीत का बोल लम्बा होगा।

**उदाहरणार्थ:-**

स्वर- म प प ग म रे ध रे म रे ग सा म

बोल- ग ण प ऋ ऋ ति ग ज ऋ वं ऋ द न

**काल:-** स्वरों के एक अक्षर को ही काल कहते हैं एक-एक अक्षर काल के स्वर निम्न हैं सा रि ग मा प ध नि।

इनको ह्रस्व स्वर भी कहा जाता है। सभी ह्रस्व स्वर एक-एक अक्षर काल के होते हैं। अगर गीत (साहित्य) में अक्षर ह्रस्व हैं तो स्वर भी दीर्घ लिए जाते हैं। दीर्घ स्वर दर्शाने के लिए स्वर निम्न ढंग से लिये जाते हैं-

सा रि गा मा पा धा नी

अगर किसी भी स्वर को दो अक्षर काल से अधिक गाना हो तो उसके आगे विराम चिह्न (.) का प्रयोग करते हैं। ऐसा करने से स्वर तीन अक्षर काल का हो जाएगा। (य) चिह्न प्रयोग करने पर स्वर चार अक्षर काल का हो जाएगा।

जैसे- स का अक्षर काल 1 है।

सा का अक्षर काल 2 है

सा, का अक्षर काल  $2+1=3$  है।

साय का अक्षर काल  $2+2=4$  है।

इस प्रकार सा य य यए ( $2+2+2+2+1=9$ ) नौ अक्षर काल के लिए लिखा जाएगा।

**पहला, दूसरा तथा तीसरा काल:-** पहला काल उसे कहते हैं जिसमें एक अक्षर काल की अवधि में एक ही स्वर गाया जाये। एक अक्षर काल में एक स्वर होगा अर्थात् एकगुण।

दूसरा काल अर्थात् जिस एक अक्षर काल की अवधि में दो स्वर गाए जाएं। दूसरा काल दर्शाने के लिए स्वरों के नीचे रेखा खींची जाती है। जिसे हम दुगुण की लय कहते हैं।

तीसरा काल अर्थात् जब एक अक्षर काल की अवधि में 4 स्वर गाए जाएं तो तीसरा काल होता है। तीसरा काल में एक अक्षर में 4 स्वर के नीचे रेखाएं लगाते हैं।

**मींड का चिह्न:-** मींड का चिह्न दर्शाने के लिए/चिह्न लगाते हैं। जैसे प से सां की मींड दर्शाने के लिए प/सा ऐसे लिखेंगे।

**गमक का चिह्न:-** गमक को दर्शाने के लिए स्वर के ऊपर या नीचे ( ) चिह्न का प्रयोग करते हैं। जैसे ध नि सां।

## दक्षिण संगीत पद्धति में गमक

दक्षिण संगीत में 10 प्रकार के गमक का प्रयोग होता है-

1. आरोहणम्- स्वरों को जब क्रम से आरोहात्मक रूप में प्रयोग किया जाता है तो उसे 'आरोहणम् गमक' कहते हैं।
2. अवरोहणम्- जब स्वरों को क्रम से अवरोहात्मक रूप से प्रयोग किया जाये तो वह 'अवरोहणम् गमक' कहलाता है।
3. झलु- इस गमक में बीच के स्वर को छोड़कर अर्थात् एक स्वर से दूसरे स्वर पर लांघते हैं, जैसे-  
सा ग, सा म, सा प, सा ध,
4. स्फुरित- इस गमक में हर स्वर का दो बार प्रयोग किया जाता है, जैसे- रे रे ग ग म म प प
5. शिवपुच्छम्- इस गमक प्रकार में द्रुत लय में हर स्वर का तीन बार प्रयोग करते हैं। जैसे- रेरे रे गग ममम पपप
6. आहतम्- इस प्रकार के गमक में दो स्वरों को निम्न क्रम में गाते हैं-  
जैसे- सारे रे ग म प प
7. प्रत्याहतम्- प्रत्याहतम् नामक गमक में दो-दो स्वरों को अवरोह में क्रम से गाते हैं-  
जैसे- सानि निध धप पम मग
8. कम्पितः- इस गमक में एक स्वर को कम्पित करके गाते हैं।
9. आन्दोलितम्- इस गमक में स्वरों के ऊपर नीचे के स्वर को गाते हैं,  
जैसे- सा रे सा प प सा रे सा म म
10. मूर्च्छना- मूर्च्छना गमक से तात्पर्य है कि राग के स्वरों को आरोह तथा अवरोह कर इस प्रकार गाते हैं कि राग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

स्वरलिपि पद्धति का संगीत में बहुत बड़ा योगदान है। आज जितनी भी बंदीशों का हम गायन-वादन करते हैं या जानते हैं। उन बंदीशों के अस्तित्व में रहने का मूल कारण स्वरलिपि पद्धति ही है। मात्र स्मरण शक्ति के आधार पर लम्बे समय तक बंदीशे स्मरण में रहना या सिखाना संभव नहीं है। इसी दुर्भाग्यवश स्थिति के कारण हम प्राचीन अनेकों परम्परागत गायन शैलियों की बंदीशों को खो चुके हैं।

वस्तुतः आज का समय पिछले समय से भिन्न हो चुका है। वर्तमान समय को प्रौद्योगिकी विकास का युग कहा जाता है। आज कम्प्यूटर पर भी स्वरलिपि लेखन के अनेकों सॉफ्टवेयर भी मौजूद हैं।

वर्तमान समय में भारतीय संगीत की पहुँच विश्व के कोने-कोने में है तथा भारतीय संगीत को सीखने की ललक सभी में दिखाई पड़ती है। तथा हर क्षेत्र में अपनी स्वरलिपि मौजूद है। जैसे- भातखण्डे स्वरलिपि पद्धति, विष्णु दिगम्बर पलुष्कर, स्वरलिपि पद्धति तथा पाश्चात्य स्टाफ नोटेशन, दक्षिणी संगीत स्वरलिपि पद्धति, जिसके प्रयोग से सभी अपने बंदीशों को संग्रहीत करने में सक्षम हो पाये हैं। इन गायन शैलियों को संग्रहीत रखने का मूल स्रोत स्वरलिपि को ही जाता है।

## संदर्भ सूची :

1. शर्मा डॉ. स्वतन्त्र बाला, पाश्चात्य स्वरलिपि- पद्धति एवं भारतीय संगीत,
2. शर्मा डॉ. मृत्युंजय तथा त्रिपाठी राम नारायण, संगीत मैनुअल
3. त्रिवेदी राजीव (सं.), भारतीय शास्त्रीय संगीत : शास्त्र शिक्षण व प्रयोग में स्वरलिपि अंकन
4. त्रिवेदी (डा.) रागिनी, भारतीय शास्त्रीय संगीत : शास्त्र शिक्षण व प्रयोग में आलेख सार्वभौमिकता अथवा पूर्णाभिव्यक्ति
5. सिंह ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास

## सामवेद व उसकी विशेषताएं

श्वेता केश

वेद चतुष्टयी अर्थात् चारों वेदों में संगीत की दृष्टि से सामवेद का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि प्राचीन भारत की संगीत सरिता का दृश्य स्वरूप हमें सर्वप्रथम सामवेद के द्वारा ही अभिव्यजित होता है। इसके साथ ही सामवेद को अन्य वेदों के यथार्थ ज्ञान की कुंजी भी माना जाता है।

सामवेद की विशेषताओं को बताने से पूर्व साम शब्द का अर्थ क्या है यह जानना आवश्यक है। साम शब्द का मूल अर्थ है गान अर्थात् गेय वस्तु। जैमिनीय सूत्र में भी कहा गया है- गीतिषु सामाख्या अर्थात् जो मन्त्र गाये जाते हैं वही साम कहलाते हैं और जब इन्हीं मन्त्रों व गेय रचनाओं को जिसमें काव्य तथा संगीत का मंजुल समन्वय होता है को एक जगह संग्रहित किया गया तो वह सामवेद कहलाया।

चूंकि सामवेद की रचना काव्य एवं संगीत के मंजुल संयोग से हुई है अतः यदि हम सामवेद में प्रयुक्त काव्य या साहित्य की चर्चा करें तो यह कहा जा सकता है कि साहित्य की दृष्टि से सामवेद का कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि सामवेद में जिन मन्त्रों का गायन किया जाता है वे ऋग्वेद की छन्दयुक्त ऋचाएँ हैं। एक प्रकार से सामवेद को ऋग्वेद का गेय रूपान्तर भी कहा जा सकता है और दूसरी तरफ ऋग्वेद की ऋचाओं में साम का आरोपण, ऋचाओं को और अधिक प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से किया गया था। यही कारण है कि ऋग्वेद की समस्त गेय मन्त्रों के लिए साम शब्द का प्रयोग किया गया है और जिन ऋचाओं पर यह गान किया जाता था उनको "सामयोनि" नाम से अभिहित किया जाता था।

काव्य के पश्चात् संगीत जो कि सामवेद का प्रधान अंग है। इस पक्ष के अन्तर्गत बताया गया कि साम का वास्तविक रहस्य स्वर में निहित है अतः यह कहा जा सकता है कि स्वर ही साम का सर्वस्व है।

### सामसंहिता का स्वरूप -

सामवेद के दो प्रधान भाग आर्चिक व गान आर्चिक भाग में केवल ऋग्वेद की ऋचाओं का संग्रह मात्र है जबकि गान ग्रन्थ साम के स्वरमय स्वर का द्योतक है। ये गान ग्रन्थ संख्या में 4 बताये गये हैं जिनके नाम हैं (1) ग्रामगेयगान (2) आरण्यगान (3) ऊह गान (4) उह्यगान। इसके अतिरिक्त आर्चिक के भी दो भाग पूर्वार्चिक व उत्तरार्चिक हैं (1) पूर्वार्चिक में 6 अध्याय हैं उत्तरार्चिक में 1 अध्याय है।

### सामवेद की शाखाएँ -

सामवेद की सहस्रों शाखाओं में से आधुनिक समय में हमें केवल तीन ही शाखाएँ अवशिष्ट के रूप में प्राप्त होती हैं जिसमें पहली है कौथुमि शाखा जो कि गुर्जर प्रदेश में प्रसिद्ध है, दूसरी जैमिनीय शाखा जो कि कर्नाटक प्रदेश में प्रसिद्ध है, तीसरी राणानी शाखा जो कि बंग प्रदेश में प्रसिद्ध है।

### सामगान की विधि एवं विभाग -

सामगान की विधि एवं विभाग के अन्तर्गत सामगान में प्रयुक्त ऋचाओं के गान का सम्यक निर्वाह के लिए साम गीतों को विभिन्न भागों में विभाजित

किया गया था एवं प्रत्येक विभाग के सम्यक् गान का उत्तरदायित्व विभिन्न गायकों पर सौंपा गया। सामगान की ये विधियां 5 अथवा 7 बतायी गई हैं जिनके नाम हैं- प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन किन्तु अन्य परम्परा इनके अतिरिक्त दो विधियों की और चर्चा करती है जिनके नाम हैं त्रिकार व प्रणव।

### सामविकार -

सामवेद के अन्तर्गत सामविकारों को भी बताया गया है जो हैं- अक्षर, विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम, स्तोम। सामविकार का अर्थ है सामगान में जिन ऋचाओं का गान किया जाता था उनमें प्रयुक्त साहित्यिक शब्दों का संगीतानुकूल परिवर्तन।

### सामसंगीत की गान प्रणाली -

साम का आरम्भ एवं अवसान दोनों ही ओम के उच्चारण से किया जाता है। गान प्रणाली के अन्तर्गत सामगान के सम्यक निर्वाह के लिए उपगायकों की योजना साम संगीत में हुई थी। उपगायकों का कार्य स्वर की निरन्तर संगति करना था जिसके फलस्वरूप मुख्य गायकों को अभीष्ट स्वर की सन्तत स्मृति प्राप्त हो सके। इन उपगायकों का स्थान प्रमुख गाताओं के पार्श्व में नियत होता था। इनकी संख्या

कम से कम तीन व अधिक से अधिक छः होती थी। सामवेद के प्राचीन भाल्लवि ब्राह्मण में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि जो 'उपगान' से विरहित सामगायन करता है उसका गायन रसशून्य तथा खण्डित प्रतीत होने की सम्भावना रहती है। साम का वैशिष्ट्य स्वर सातत्य में है।

### साम स्वरों व स्वर सप्तक का विकास व उद्गम -

वैदिक वाङ्मय में आर्चिक, गाथिक तथा सामिक ये तीन प्रकार के स्वरान्तर पाये जाते हैं, ये क्रमशः एक, दो व तीन स्वरों के समूह से निर्मित होता है। साम के आर्चिक नामक संहिता में जिन स्वरों का व्यवहार होता है वे उदात्त, अनुदात्त व स्वरित हैं, इन्हीं तीनों स्वरों से साम के सप्त स्वरों की उत्पत्ति मानी जाती है। सामगान में प्रयुक्त सप्त स्वरों के नाम इस प्रकार हैं- प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, क्रुष्ट व अतिस्वर।

### संदर्भ सूची :

1. सिंह ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास
2. परांजपे (डा.) शरतचन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास

## पूर्वाचल लोकनाट्य परंपरा में समाज

सुरेन्द्र कृष्ण

मानव अस्मिता एक बड़ा प्रश्न जिसका उत्तर ढूंढते-ढूंढते साहित्य ने कई विद्याओं को जन्म दे डाला। मनुष्य जब पृथ्वी पर आया तो उसे सबसे पहले प्रकृति की सहचरी मिली। यह हरी-हरी दूब, उस पर उछलते मृग सावक, केलि करती चिड़ियों का झुण्ड, चांदी का गहना पहने दूब का पोर-पोर, संपूर्ण शरीर सद्यः स्नाता नायिका की भाँति, ये शैवाल, सुन्दर-सुन्दर पुष्प गुच्छ लाल, पीला, हरा, बैंगनी कई रंग से प्रकृति का कोना-कोना जैसे सजा संवरा हुआ। मनुष्य उसकी गोद में बैठकर आनंद के सुख सागर में, और तब उसके हृदय प्रदेश में एक रस का बहाव हुआ और कविता गीत का प्रणयन हुआ। धीरे-धीरे चेतना का स्वर फूटा। सामाजिकता आगे आई फिर कहानियाँ, अभिनय सभी मुखर होने लगे। तब दौर आया लोक भावनाओं का, यही लोकभावना आगे चलकर अन्यान्य रूप स्वरूप ग्रहण किया जिसमें एक दौर लोक नाट्य का भी आया।

'लोक' शब्द जनसामान्य का प्रतीक है समाज के बीच उद्घाटित कलात्मक भावों की प्रस्तुति ही लोक शब्द को सार्थक सिद्ध करती है। लोक अपने हृदय प्रदेश में एक विशिष्ट भाव धारा का प्रस्फुटन है यह शब्द अपनी गरिमा में एक सामाजिक जन चेतना या जनमानस की अगुवाई करता है।

लोक नाट्य शब्द लोक तथा नाट्य इन दो शब्दों से बना है। लोक से तात्पर्य है जन साधारण से जो चाहे गाँव का रहने वाला हो या शहर का। उसकी शिक्षा-दीक्षा, पहनावा, आचार विचार संस्कार और व्यवहार उस देश की प्रतिनिधि संस्कृति के प्रतीक हो और जनसाधारण की वृत्तियों का मूर्तरूप

हो। इसी संस्कृति का नाट्य रूपांतर जब कलात्मक आनन्दायक अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेता तो लोक नाट्य के रूप में चिन्हित किया जाता है।

हमारी भारतीय संस्कृति संसार की प्राचीन संस्कृतियों में एक है विशेष रूप से "नाट्य" जो नृत्य आदि ललित कलाओं की केन्द्रस्थली है। अनेकानेक कलाओं से समन्वित "लोकनाट्य" लोक संस्कृति की थाती कहा जा सकता है। लोक सामाजिक एवं सामूहिक कला के रूप में लोकनाट्य में पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, पौराणिक आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं व परिस्थितियाँ सहज तथा स्वच्छन्द रूप प्रस्तुत होती हैं। लोकनाट्य में समाज का हस-खिले व्यंग्य-कटाक्ष, उमंग-उत्साह, आशा-अपेक्षा, आस्था-निष्ठा, आंसू-मुस्कान, जादू-चमत्कार, तथैव भाव, लोकाचार आदि अत्यंत सहज भाव से अभिव्यक्त एवं सम्प्रेषित होते हैं। लोकनाट्य में लोकानुराग ऐसे शाश्वत तत्व समाहित है कि वे सदियों जनाकर्षण व लोक ललक के साधन रहे हैं गीत-संवाद, काव्य-छन्द, अभिनय-नृत्य आदि लोकनाट्य के मूल तत्व हैं।

भरत मुनि द्वारा रचित ग्रंथ - "नाट्यशास्त्र" भी एक प्रमाण है जिसमें भरतमुनि ने लिखा है कि ब्रह्मा ने हम प्राणियों के मनोरंजनार्थ चारों वेदों से पाठ, साम से गायन, यजु से अभिनय और ऋग्वेद से रस लेकर पंचमवेद नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया है।

ऋग्वेद में लोक की एक विराट कामना की है और लोक के संदर्भ में कहा गया है।

“सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपातः”

अर्थात् वह सहस्रो मुख, सहस्रो नेत्र तथा सहस्र पद से युक्त पुरुष है जिसकी संकल्पना शक्ति, व्यापार, व्यवसाय, कला-कौशल, कृषि, उद्योग, शस्त्रोन्नतयान और व्यवहार कुशलता आदि में निपुण है। जिसके कारण वह प्राणी मात्र का मित्र व संपादक बना रहता है।

भारत मुनि ने नाट्य की दो परंपराओं को लोकधर्मी व नाट्यधर्मी संज्ञा दी लोकधर्मी नाट्यों में लोक का शुद्ध एवं स्वामाविक अनुकरण होता है और नाट्यधर्मी नाट्य के रूप में महान नाट्यकारों की स्वनात्मक कृतियों का अनुकरण होता है।

संस्कृत नाटकों से भी पूर्व किसी न किसी रूप में ये परंपरागत लोकनाट्य विकसित होते रहे। ये लोकनाट्य सामाजिक चेतना, राजनीतिक परिस्थिति और अभिव्यंजना शैली के बदले रूप सभी युगों की प्रगति के प्रेरक थे। भक्ति युगीन भक्त नाटककारों ने रस निरूपण को एक तरह की संप्रेषण पद्धति बनाकर अपने संदेश को प्रेक्षकों तक पहुंचाया। नाट्य द्वारा शिक्षा प्रदान करने का एक अनूठा प्रयोग था जिसमें संगीत, नृत्य एवं अभिनय का होना आवश्यक था। संगीत का प्रयोग ही लोकनाट्यों के आकर्षण का प्रमुख कारण है जिसे हम नाट्य संगीत की संज्ञा देते हैं।

अभिनय में संगीत का संकेत हमें “नाट्यशास्त्र” के चतुर्थ अध्याय में मिलता है। नाट्य में संगीत एक अनिवार्य तत्व है जिसके प्रयोग में नाट्यकथा का विस्तार एवं नाट्य में रस की सृष्टि होती है। विभिन्न रसों को अभिव्यक्त करने के लिए काकु का प्रयोग करते हैं। विभिन्न राग-रागिनियों एवं स्वर समुदायों के द्वारा कर्षण, शांत, श्रृंगार, भयानक आदि रसों को अभिनय के भावों के अनुरूप गाने से रस-सृष्टि होती है और श्रोता आनन्द प्राप्त करते हैं।

आज भारत नवजागरण काल से उबरकर आधुनिक काल में प्रवेश कर गया है जहां लोकनाट्य की प्रासंगिकता बढ़ गई है। हम उन दिनों भी अपने विभिन्न बोलियों में अपने भाव संसार को व्यक्त किया करते थे और आज भी करते हैं। जैसे कि भाषा का अपना धर्म है मन में उठने वाली भावनाओं को कैसे दूसरे के हृदय प्रदेश में उतार दें। इस पुनीत

कार्य के लिए दृश्य काव्य, बड़ा आसान और लाभप्रद चेतना का स्वर है। आप जैसे भाषा-भाषी हो उसी भाषा में राम का चरित्र समाज की बहती धारा में डालने की चेष्टा करें तो उसका आधार लोकनाट्य ही होगा। हम देखते हैं कि रामलीला देश के कोने-कोने में दृश्यकाव्य यानी लोकनाट्य के रूप में प्रस्तुत की जाती रही है और देखा जाता है कि बालमन पर इसका प्रभाव पड़ता है। लड़के राम का तीर-धनुष बनाकर राम बनने की कोशिश में लग जाते हैं। यह लोकनाट्य की सफलता है और आज के परिप्रेक्ष्य में यह सामाजिक चेतना का स्वर है।

पूर्वांचल संस्कृति भी इन्हीं परंपराओं का पोषक क्षेत्र रहा है और भारत में वह अपनी एक लोकनाट्य कला की विशिष्ट छाप छोड़ता है। जैसे-विदेशिया, आल्हा-उदल, लोरिका, विजयमल, सोरठी-वृजभान, नौटंकी, विहुला, रामलीला, कृष्णलीला, भरत मिलाप, नाग-नथइया, नकट्टैया आदि सभी लोकप्रिय मनोरंजन है जिसमें संगीत, नृत्य एवं अभिनय का भरपूर मिश्रण होता है। विहार के प्रसिद्ध भिखारी ठाकुर जो विदेशिया के प्रणेता हैं जिन्होंने समाज में प्रचलित अनैतिकता, कुरीतियों एवं भ्रष्टाचार पर कुठाराघात किया है।

यद्यपि प्रत्येक अंचल के नाटकों में क्षेत्रों की प्रमुख भाषा एवं संस्कृति का सम्मिश्रण मिलता है तथापि इनके मिश्रण से ही सौन्दर्यबोध एवं आनंद की अनुभूति होती है। संगीत नृत्य अभिनय, लयात्मक प्रवाह एवं संवाद इस शैली की विशेषता है। प्रादेशिक स्तर पर लगभग सभी लोकनाट्य के कथानकों में धार्मिक, पौराणिक, ओज एवं वीरता तथा श्रृंगारिकता पूर्ण चित्रण का प्रयोग हुआ है इस प्रकार पूर्वांचल के सांस्कृतिक परिदृश्य में लोकनाट्य एक महत्वपूर्ण विद्या के रूप में विद्यमान दिखाई पड़ता है। अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक चेतना में लोक नाट्य मुख्य भूमिका में खड़ा है और सांस्कृतिक उत्कृष्टता एवं परिपक्वता के लिए भी कारगर प्रतीत होता है।

### संदर्भ सूची :

1. लाल तेजनारायण, मैथिली लोकगीतों का अध्ययन
2. सत्याधी देवेन्द्र, बेला फूले आधी रात
3. उपाध्याय कृष्णदेव, भोजपुरी लोकगीतों का अध्ययन

# प्रसिद्ध पौराणिक एवं सांगीतिक ग्रन्थों में उल्लेखित तन्त्र वाद्य का वर्तमान स्वरूप

अंजली शर्मा

आचार्यों ने संगीत में गीत के साथ-साथ वाद्य तथा नृत्य को भी सम्मिलित किया है। क्योंकि गेयता की अभिव्यजनां वाद्य एवं नृत्य से पूर्ण होता है शारंगदेव के अनुसार-गायन वादन एवं नृत्य तीनों को संगीत कहा जाता है।

“गीत वाद्य तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते।”

शारंगदेव के साथ पं. दामोदर तथा पं. अहोबल जैसे विद्वानों ने भी गायन वादन तथा नृत्य के समूह को संगीत कहा है।

## संगीत में तन्त्रीवाद्य-

गायन एवं नृत्य के साथ वादन का भी संगीत जगत में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वादन के क्षेत्र में तन्त्री वाद्य प्राचीन काल से ही संगीत जगत में अपनी स्वतन्त्र भूमिका निभाते आया है। संगीत के शास्त्रीय पक्ष को प्रमाणित करने में तन्त्रवाद्यो का प्रमुख स्थान रहा है।

सर्वप्रथम आचार्य भरत ने बाइस श्रुतियों को सिद्ध करने के लिए वीणा का ही आधार लिया था, बाद में अन्य आचार्यों ने भी वीणा के माध्यम से सप्तक के स्वरों व श्रुतियों को स्पष्ट किया है।

प्राचीन काल से ही तंत्र वाद्य संगीत क्षेत्र में एक सशक्त व प्रबल आधार रहा है। इसका प्रमाण प्रसिद्ध पौराणिक ग्रन्थों एवं प्राचीन सांगीतिक ग्रन्थों में तंत्र वाद्यो के उल्लेख से भी प्राप्त होता है। जैसे वायु पुराण, मार्कण्डेय पुराण तथा हरिवंश पुराण में संगीत से संबंधित महत्वपूर्ण उद्धरण प्राप्त होते हैं स्कंद पुराण में भगवान शिव को प्रदोषकालिक पूजा

के समय भगवती सरस्वती को वीणा वादिका के रूप में चित्रित किया गया है।

तंत्र वाद्यो के अन्तर्गत वीणा, वल्लकी, महती एवं तुम्ब वीणा का उल्लेख पुराण साहित्य की अपनी महत्ता है। हरिवंश पुराण में नारद को तीनों लोको में भ्रमण करते हुये अपनी महती वीणा को कण्ठ से लटकाये हुए, हरिनाम का गान करते हुये भ्रमण करने का वर्णन किया है।

वेदों में यजुर्वेद के सामगान का वर्णन मिलता है साथ ही साथ अनेक वाद्यो का उल्लेख भी इसमें आता है जैसे-वीणा, तूरण, दुन्दुभि शंख आदि वाक्यों में वीणा का विशेष स्थान था एवं उनके अनेक नाम भी प्रचलित थे जैसे- गात्रवीणा, महती, कात्यायनी, रावणी, धोषवती, कच्छपी, काण्डवीणा, कक्ररी, वाण आदि।

वैदिक संगीत के पश्चात संगीत सम्बन्धी विभिन्न विषयों की जानकारी “रामायण” “महाभारत” “बौद्ध”, जातक जैन ग्रन्थ और पुराण साहित्य से मिलती है। यद्यपि यह संगीत के ग्रन्थ नहीं हैं फिर भी कुछ तन्त्री वाद्यो का संक्षिप्त एवं महत्वपूर्ण वर्णन इनमें देखा जा सकता है।

रामायण के अयोध्याकाण्ड में वीणा का उल्लेख मिलता है। रावण के अन्तःपुर का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि वीणा के साथ “विपंची” एवं “आडम्बर” का उल्लेख करते हैं जिसमें विपंची एवं वीणा का ही प्रकार है तथा आडम्बर नामक वाद्य सम्भवतः औदम्बरी वीणा का ही द्योतक है। महाभारत

में भी तन्त्रीवाद्यों में वीणा, विपंची एवं वल्लकी का वर्णन है, बौद्ध साहित्य तथा जैन ग्रन्थों में विपंची, वल्लकी महती, अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में नकुली और तुम्ब वीणा का तथा जैन ग्रन्थों में चित अथवा चित्र, सुवोपा, नन्दिघोष, परवायुवी अर्थात् परिवादिनी आदि की चर्चा है।

सांगीतिक एवं नाट्य ग्रन्थों में सबसे प्राचीनम एवं आधार ग्रन्थ भरतकृत नाट्यशास्त्र में विपंची एवं मत्तकोकिला वीणा का उल्लेख किया है।

मंतग कृत बृहददेशी में वीणा के कई प्रकार जैसे-परिवादिनी विपंची, वल्लकी, घोषवती इत्यादि का उल्लेख प्राप्त है, प्रो. रामकृष्ण के अनुसार मंतग ने किन्नरी वीणा का आविष्कार किया। वीणा पर परदे लगाने की योजना भी सर्वप्रथम मंतग ने ही की थी। कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि मंतग मुनि ने ही चित्रवीणा के नाम का उल्लेख किया जो इस वीणा को बजाते थे।

अभिनव भारती में अभिनव गुप्त ने मत्तकोकिला वीणा को प्रधान माना इसके अतिरिक्त वक्रा कर्मा और अलावू वीणा के अन्तर्गत विपंची, वल्लकी, मत्तकोकिला, सरस्वती, किन्नरी, परिवादि आदि वीणाओं का भी उल्लेख किया।

मध्यकाल में शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर के वाद्याध्याय में उन सभी तन्त्री वाद्यों का उल्लेख प्राप्त है जो उस समय प्रचलन में था जैसे- एकतन्त्री वीणा, नकुली वीणा, विपंची वीणा, चित्रवीणा, त्रितन्त्री वीणा, मत्तकोकिला, अलापिनी किन्नरी वीणा, पिनाकी वीणा आदि।

स्पष्ट है कि पुराणों से लेकर सांगीतिक ग्रन्थों तक संगीत के वर्णन में तन्त्र वाद्य की प्रमुख भूमिका रही है। इस सभी तन्त्र वाद्यों में से कुछ वाद्य प्रचलन में न होने के कारण उनका लोप हो गया तथा कुछ ने परिवर्तन होकर नया स्वरूप ले लिया जिनमें से कुछ वाद्यों का वर्णन इस प्रकार है।

### मत्तकोकिला वीणा :

मत्तकोकिला का सर्वप्रथम उल्लेख संगीत रत्नाकर में प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार महर्षि भरत

इस वीणा का वादन करते थे, परन्तु यह प्रमाणिक रूप से स्पष्ट नहीं हुआ। पं. लालमणि मिश्र एवं श्री चैतन्य देसाई के अनुसार महती वीणा ही शारंगदेव के काल तक मत्तकोकिला नाम से पहचाने जाने लगा इसमें 21 तन्त्रिया होती थी। तथा इसे तीनों सप्तको में मिलाया जाता था। संगीतराज के रचयिता कुम्भकर्ण, अभिनव भारती के लेखक अभिनव गुप्त, महाराणा कुम्भा तथा पं. श्री कण्ठ जैसे विद्वानों ने कहा है कि मत्तकोकिला वीणा ही वर्तमान में स्वरमण्डल के रूप में है एवं इसका वादन स्वतंत्र न होकर गायन के साथ संगत के रूप में होता है।

### चित्र वीणा -

चित्र वीणा का सर्वप्रथम उल्लेख महर्षि भरत ने किया था उनके अनुसार इनमें सात तन्त्रियां होती थी तथा इसे केवल अंगुलियों से बजाया जाता था प्राचीन काल के भिन्न-भिन्न प्रस्तर मूर्तियों में 6 या 7 तारों की व्यवस्था दिखाई देती है इससे यह ज्ञात होता है कि विभिन्न प्रस्तर मूर्तियों में चित्र वीणा को दर्शाया गया है। 7 वी से 13 वी शताब्दी तक किन्नरी व एक तन्त्री वीणा प्रचार से आ गया। चित्र वीणा पुनः 18वीं शताब्दी में सुर सिंगार के रूप में प्रचलित हुआ तथा वर्तमान में सरोद के रूप में यह वाद्य प्रचलन में है।

### विपंची-

प्राचीन काल में विपंची वीणा एक महत्वपूर्ण वीणा के रूप में प्रचलित थी ब्रह्मा ने प्रथम नाट्य प्रयोग में स्वाती और इनके शिष्यों के इसके वादन के लिये नियुक्त किया था विपंची वीणा का उल्लेख वाल्मीकी रामायण के सुन्दरकाण्ड में उपलब्ध है। जैन ग्रन्थों में वर्णित 60 प्रकार के वाद्यों में इसकी गणना की गई है। भरत के नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख है एवं इसमें नौ तार होने की बात कही गई है इसे दो विधि से बजाया जाता है, अंगुलियों से तथा कोठा से अंगुलियों से बजाने पर यह स्वरमण्डल के रूप में प्रतीत होता तथा कोठा से बजाने वाला विपंची वर्तमान में संतूर का रूप धारण कर लिया।

### एकतन्त्री वीणा-

ब्रह्मी वीणा के अनेक नामों में एक नाम एकतन्त्री वीणा भी था। एक तन्त्री का अर्थ है एक तार से युक्त वीणा इसे ही स्वरस्वती वीणा भी कहा जाता है शारंगदेव ने सर्ववीणाओं की उत्पत्ति एकतन्त्री वीणा से कही है परन्तु वर्तमान में इस वीणा को विचित्र वीणा के रूप में जाना जाता है।

### त्रितन्त्री वीणा-

तीन तारों से युक्त वीणा को त्रितन्त्री वीणा कहा गया है श्री S.M. टैगोर ने त्रितन्त्री वीणा की तुलना कच्छपी वीणा से किया है उनके अनुसार जो कार्य कच्छपी वीणा में सम्पादित होते हैं वही कार्य त्रितन्त्री वीणा में भी होते हैं केवल आकार छोटा है। कल्लिनाथ के टीका के आधार पर त्रितन्त्री वीणा ही आगे चलकर तम्बुरा तथा वर्तमान ने सितार बना।

### रावण हत्था-

यह वाद्य राजस्थान के भील जाति के कथावाचकों द्वारा बजाया जाता था इसमें दो तार होते थे पहला घोंड़े की पूंछ से बना होता था तथा दूसरा कई तारों को मिलकर बनता था इसे पड़ज पंचम में मिलाया जाता था इसका तुम्बा नारियल के खोल से बनाया जाता है तथा उसके ऊपर चमड़े की झिल्ली बंधी होती है। इसे कमानी से बजाते थे इसी का सुधार हुआ व बदला हुआ रूप सारंगी है जो वर्तमान में प्रचलित है।

### संदर्भ सूची :

1. महाडिक डा. प्रकाश, भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य
2. मिश्र डां. लालगणि भारतीय संगीत वाद्य
3. नारायणदेव पं. गजपति संगीत नारायण
4. पं. श्री कण्ठ, रस कौमुदी

# ‘रवीन्द्रनाथ का आध्यात्मिक चिन्तन’

आहना शर्मा

भारत में साधना का सर्वोत्कृष्ट पक्ष है अध्यात्म, इसका कोशगत अर्थ है-

अध्यात्म-पु. (संस्कृत अधि-आत्मन् अ.म.स.)

तदनुसार- (वि. आध्यात्मिक)

क) परमात्मा

ख) आत्मा

ग) आत्मा तथा परमात्मा के गुणों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के विषयों में किया जानेवाला दार्शनिक चिन्तन, निरूपण अथवा विवेचन।

परमात्मा तथा आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाला विशिष्ट ज्ञान है अध्यात्म। ऋग्वेद के अनुसार-

अग्निं दूतं वष्णीमहे होतारं विश्ववेदसम्।

अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।

अर्थात्-

यज्ञहोता, विश्ववेत्ता, शुभ्रकर्मा, यश-धृती।

अग्नि-रूपी दूत का करते वरण हम वर-व्रती।।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने इसी अग्नि को देवदूत मानकर अपने अध्यात्म चिन्तन को अमरता प्रदान की। तैत्तरीय संहिता के अनुसार

‘अग्निर्देवानां दूत-आशीदुशना’ के आलोक में गुरुदेव ने अग्नि को देवदूत की संज्ञा प्रदान की और उसी के भास्वर प्रकाश में अपने विचारों को दिव्यता, भव्यता और उदात्तता प्रदान की। नवजागरण के पुरोधे रवीन्द्र अपने वैदुष्य, अपनी विराट् आध्यात्मिक चेतना तथा कालजयी लेखनी के सुप्रभाव से ऋषि कल्प बन गए। प्रसिद्ध है-

‘रागेण वध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते।’

राग ही हमें एक दूसरे से बाँधता है और यही मोक्ष अर्थात् प्रकाश का कारण भी होता है। रवीन्द्रनाथ का सम्पूर्ण चिन्तन और साहित्य रागश्रित है। ‘जीवन देवता’ के रूप में चेतना के प्रत्येक स्तर को दार्शनिक अनुभूति से समझने की जीवन-दृष्टि ही रवीन्द्र-दर्शन का मूल है। विश्व भारतीय की संरचना के इस कालजयी सूत्रधार ने जीवन को आध्यात्मिक चेतना से संबन्धित कर उसे एक वैश्विक दृष्टि प्रदान की। रवीन्द्र का सारा जीवन मनुष्य को उसकी महिमा के प्रति सचेतन करने का प्रयास है, संकीर्ण राष्ट्रीयता और आर्मिकता को शिथिल करने के लिए महान संघर्ष का प्रयास है, और मनुष्य में प्रेम, औदार्य और भ्रातृभाव उद्बद्ध करने का स्वर्गीय प्रयत्न है। रवीन्द्रनाथ मूलतः कवि थे।

इस संसार के विचित्रमय जीवन ने उनका आरंभिक ध्यानाकर्षण किया था। विश्वमोहन प्रभु को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था-

“हे नाथ, वीणा की भाँति मैं अपने इस मुग्ध मन को तुम्हारी गोदी में सौंप देता हूँ। इसके मोह-रूपी सैकड़ों तारों पर आघात करके तुम अपना विचित्र संगीत मुखरित करो।” और उन्होंने साश्चर्य ऐसा अनुभव भी किया-

विश्व एखोन निद्रा मोगोत निविर अन्धकार  
के देय आभार वीणार तारे  
एमोन इंकार।।

कालिदास के ‘राजा प्रकृति रंजनात्’ के सारे गुण रवीन्द्रनाथ में हैं। वे कर्मयोगी थे। क्रान्तदर्शी रवीन्द्र का व्यक्तित्व विश्वाभिमुख है। आपका दर्शन समन्वयकांक्षी है। आध्यात्मिक चेतना के मनस्वी

चिंतक रवीन्द्र का जीवन भावनामय, काव्यमय, सौन्दर्यमय और प्रेममय था। आपका चिन्तन शान्तिपरक और आलोकमय है।

अपनी 'निरूद्धदेश्य यात्रा' में रवीन्द्र कहते हैं-

“आर कत दूर निये यावे मोरे हे सुन्दरी?  
बलो कोन् पार भिड़िबे तोमार सोनार तरी?  
यखनि शुधाइ ओगो विदेशिनी  
तुमि होसो शुधू मधुर हासिनी,  
बुझितो ना पारि की जानि की आछे तोमार मने।”

अपनी नाव को दर्शन के तरंगों पर खेने वाले रवीन्द्र ने ज्ञान के दिव्य लोक का साक्षात्कार किया। कर्मरत जीवन ही मनुष्य के कल्याण का मूल कारण है। नव जागरण क सूत्रधार रवीन्द्रनाथ कहते- 'अरे मुसाफिर, वह देख, पुराने वर्ष की जीर्ण-कलान्त रात्रि कट गई। आया है वह निष्ठुर, हो जाने दे द्वार का बन्धन दूर, अरे जाने दे उस मद के पात्र को चूर्ण-विचूर्ण! मैं नहीं समझता, नहीं पहचानता, नहीं जानता उसे, पकड़ उसका हाथ, -ध्वनित हो उठे तेरे हस्त कम्पन में उसकी दीप्त वाणी! अरे मुसाफिर, वह पुरानी रात कट गई, कट जाने दे उसे-

पुरातन वत्सरेर जीर्ण क्लान्त रात्रि  
ओई कटे गेले ओरे यात्री!  
एसे चे निष्ठुर  
होक् रे द्वारे बन्ध दूर  
होक् रे मदेर पात्र-दूर!

रवीन्द्र मानवतावादी थे। रवीन्द्र का जीवन दर्शन भारतीय ही नहीं वैश्विक परिस्थितियों के लिए सर्वथा हितकर और ग्राह्य है। आज जैसी अनास्था और व्याकुलता का परिवेश है, कदाचित् उसी को ध्यान में रखकर सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन ने कहा था- “मानव इतिहास के किसी भी समय में इतने लोगों के सिर पर इतना बड़ा बोझ नहीं पड़ा है, या वे इतनी बड़ी मंत्रणाओं और अन्तर्वेदनाओं के कष्ट के शिकार नहीं हुए। हम ऐसे संसार में जी रहे हैं जिसमें विषमता सर्वव्यापी है। परम्पाराएँ, संयम, स्थापित कानून और यथास्थिति आदर्श शिथिल हो गए हैं। जो विचार कल तक सामाजिक भद्रता और न्याय से अविच्छेद्य समझे जाते थे और जो शताब्दिया से लोगों के आचरण का निर्देशन और अनुशासन करने में समर्थ समझे जाते थे, वे आज बह गए हैं।

संसार गलतफहमियों, कटुताओं और संघर्षों से विदीर्ण हो गया है।”

रवीन्द्र नाथ इसी सभ्यता के संकटकाल के मनीषी दार्शनिक हैं। अपनी रचनाओं तथा अपने सद्बिचारों के द्वारा आपने अनास्था-जर्जर मानवता को आशा और विश्वास का मंत्र दिया है। मनुष्य की बुद्धि ने प्रकृति के रहस्यों की जो जानकारी प्राप्त की है उसने उसे पूर्णतया आत्मकेन्द्रित और स्वार्थी बना दिया है। अपने तरुण काल में रवीन्द्र ने 'जीवन-देवता' कविता की रचना की थी। इस कविता में आपने भारतीय मनीषियों की वाणी को नवीन भाषिक कलेवर प्रदान किया था। इससे वही बात मधुर और हृदयग्राही हो गई थी। रवीन्द्र ने यहाँ एक सनातन प्रेमी द्राक्षा की तरह निचोड़कर निःशेष त्रुटियाँ अशेष स्वलन उस चिर पुरातन प्रेमी की ओर उन्मुख होकर धन्य हो जाता है। यह जीवन उस चिरन्तन गायक की वीणा है, जो भी राग उसके मन के अनुकूल बजते हैं, वे धन्य हैं।” रवीन्द्र की भक्ति में पूर्व के समान वैराग्य नहीं है। रवीन्द्र दर्शन मानव समुदाय का हित चिन्तन से अनुबद्ध है। जब पं. जवाहरलाल नेहरू आपसे मिले तो रवीन्द्रनाथ ने कहा कि “पंडितजी चीन से मुकाबला तो हम कर लेंगे किन्तु हमारा सबसे बड़ा दुश्मन तो दारिद्र्य है। इसके लिए ग्रामदान, ग्रोमोद्योग, ग्राम स्वावलम्बन, आदर्श नागरिक बोध, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा को ध्यान में रखना होगा।”<sup>6</sup> रवीन्द्रनाथ जनता में ही जनार्दन का अधिवास मानते थे-

सर्वहारा वर्ग की व्यथा को समर्पित है यह दर्शन। रवीन्द्र दर्शन आडम्बर रहित है। उपासना के लिए यहाँ केवल शुद्ध और निश्छल मन की आवश्यकता है। चित्त को ही पारिजात और चन्दन मानते थे रवीन्द्र। वे कहते थे कि भगवान के यात्री दल में अन्तिम स्थान पाना भी सौभाग्य का विषय है।

रवीन्द्र मनुष्य को कर्तव्य बोध से आवेष्टित करते कहते कि यदि तुम भागीरथी से पूछोगे कि वन प्रान्तरों कृषि-क्षेत्रों को सिंचन करते-करते अन्ततः समुद्र में पहुँचती है। इसी प्रकार ईश्वर तक पहुँचने के क्रम में सेवा के अवसरों को छोड़ना मार्ग को कठिन बनाना होगा। रवीन्द्र दर्शन-

“सबहिं नचावत राम गुसाई  
नाचत नर मक्रट की नाई”

रवीन्द्र ‘जय जगत्’ कहते थे। ‘विश्व-राज्य’ की परिकल्पना कर वे ‘मंगल-प्रभात’ की प्रतीक्षा करते रहे। रवीन्द्र दर्शन तटस्थ बुद्धि से परिचालित है तभी तो भगवान् बुद्ध की भाँति वे कहते-

“मोरे डाकि लये जाओ द्वारे तोमार विश्वेर सभाते  
आजि ए मंगलप्रभाते।”

मानव का जीवन छाया और प्रकाशमय है। प्रकाश के साथ छाया का होना अनिवार्य है। आदित्य की पत्नी छाया देवी ही हैं। गुणाश्रित दोष ही कुछ-न-कुछ अस्तित्व पाते हैं। रवीन्द्र कहते-“स्वार्थ छोड़ो, दैन्य छोड़ो, जड़ता और जाग जाओ।” रवीन्द्र दर्शन स्वावलम्बन से अनुबद्ध है। सद्विवेक को वे जागृति कहते हैं। “स्वार्थ हते जागो” अर्थात् विवेक करो और स्वार्थ का जो अच्छा अंध है, जो सबके लिए जरूरी है, उतना रखकर बाँकी का अंश छोड़ दो। यदि हम विवेक की यह प्रक्रिया नहीं अपनाते तो समाज को विचार ग्रहण नहीं होगा। रवीन्द्र का ‘जीवन-देवता’ आधुनिक युग के संघर्ष जटिल वातावरण में प्रेरणा और शक्ति का स्रोत है। रवीन्द्र का मानना है कि जो कुछ हम जानते हैं, जान सकते हैं, अनुभव करते हैं और अनुभव कर सकते हैं वह मानव-दृष्टि से देखा हुआ सच है मानव के दो रूप हैं, एक व्यक्तिरूप और दूसरा समष्टिरूप। इसी समष्टि मानव के मस्तिष्क में विराट समष्टि चित्र में संसार जैसा जो कुछ दिख रहा है वही मानवीय है। इससे भिन्न कोई सत्य नहीं। आइन्स्टाइन ने जब रवीन्द्रनाथ से सत्य पर चर्चा की तो रवीन्द्र ने कहा था- “मैं-रूप में अभिव्यक्त सत्ता ही चरम और परम सत्ता है। हम जो कुछ सत्य या सुन्दर रूप में देख या अनुभव कर रहे हैं वह सब मानव सत्य है। मनुष्य निरपेक्ष कुछ भी नहीं। व्यक्ति मानव जो कुछ अनुभव करता है, विचार करता है, विवेक से ग्रहण करता है, वह सत्य सभी होता है जब वह समष्टि मानव की धारणाओं के अनुकूल हो। इसी विराट सत्ता में जो परिपूर्ण सामंजस्य (आइडिया ऑफ कम्पलीट हारमनी) है उसे हम सुन्दर कहते हैं।” आइन्स्टाइन अवाक होकर घंटों रवीन्द्रनाथ को सुनते रहे।

रवीन्द्र कहते हैं कि ‘अहं के विसर्जन ईश्वर बोध के लिए आवश्यक है। ‘अहं के विसर्जन से ही सत्य और शिव का बोध होता है जो अन्ततः सुन्दरम् में परिवर्तित हो जाता। इस परमसत्य को स्वीकार करने में ही मनुष्य का कल्याण है।

“आमि चंचल हे, आमि सुदूर पियासी”

लिखकर रवीन्द्र बताते कि धरती का बीज जैसे अंकुरण के लिए व्याकुल रहता ठीक उसी प्रकार अनुकूल परिस्थितियों को पाते ही मनुष्य अध्यात्म के ज्योतिर्मय जगत में प्रविष्ट हो जाता। यह सहज वेदना है, सहज प्रवृत्ति है। रवीन्द्र दर्शन सीमातीत है।

“वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नये”

कबीर की भाँति रवीन्द्र ‘साधो सहज समाधि भली’ के पक्षधर हैं। वे वैराग्य साधन वाली मुक्ति को जीवन की अस्वीकृति समझते हैं। रवीन्द्र दृश्य में, गंध में, गान में प्राप्त आनंद में ही उसे तलाशते। रवीन्द्र की भक्ति कल्याणी है, यह मोह को प्रेम में रूपान्तरित कर देती है और बंधन को असीम में उड़ान भरने की क्षमता प्रदान करती है। तभी तो वैश्वीकरण के इस परिवेश में भी रवीन्द्र-दर्शन, रवीन्द्र-संगीत, रवीन्द्र-सदेश कल्याणकारी, प्रासंगिक, उदात्त और सार्वदेशिक बना हुआ है। इस अध्यात्म-सरिता का अविरल प्रवाह देख कर सहृदय पाठक यही पूछता-

“सत्य करे कहो मोरे है वैष्णव कवि  
कोथा तुमि पेथे छिले ऐइ प्रेमच्छवि।”

### संदर्भ सूची :

1. हिन्दी शब्द सागर, नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण
2. ऋग्वेद, मन्त्र, 12, छन्द गायत्री
3. रवीन्द्र, निरुद्देश्य यात्रा, पृ. 9
4. रवीन्द्र, गीत-गुंज, पृ. 61
5. अनुवाक, विश्वभारती पत्रिका, पृ. 221
6. मिश्र डॉ. अजय, कवीन्द्र-रवीन्द्र, पृ. 09
7. शिवानी गौरादेवी पंत, संगीत, पृ.-21
8. तथैव, पृ.-41

## भारतीय संगीत के मार्ग तालों में एककल, द्विकल, चतुष्कल की अवधारणा

चन्दन विश्वकर्मा

संगीत स्वर प्रधान कला है, तथापि ताल, लय अथवा गति इसका अनिवार्य अंग है। संगीत के आधारभूत तत्वों में ताल एक महत्वपूर्ण अंग है। प्राचीन समय से अर्थात् संगीत की उत्पत्ति के साथ ही ताल एक अभिन्न अंग के रूप में इससे जुड़ा हुआ है। भारतीय ताल पद्धति के मूल सिद्धान्तों का निरूपण संगीत के अन्य विषयों की भाँति सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध होता है, अतः ताल की दृष्टि से भी इसे आधार ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

“नाट्यशास्त्र के 21वें अध्याय, मानसोल्लास के 16वें अध्याय की चौथी विशांति, संगीत रत्नाकर के 5वें अध्याय तथा संगीतराज के तीसरे कोश के तीसरे उल्लास के पहले, दूसरे और तीसरे परीक्षणों में ताल-निरूपण है।

आचार्य भरत मुनि के अनुसार गान्धर्व (संगीत) की संरचना तीन तत्वों से हुई है -

“गान्धर्वमिति तज्ञेयं स्वरताल पदात्कम्।”

अर्थात् गान्धर्व स्वर, ताल और पद से निर्मित है। ताल, स्वर तथा पद को एक आकृति तथा मूलभूत अस्तित्व प्रदान करता है।

ताल शब्द ‘तल्’ धातु से उत्पन्न होता है जिसका सामान्य अर्थ है - आधार स्थल।

“ताल शब्दस्य निष्पत्ति प्रतिष्ठार्थक धातुना।

गीतं वाद्यं च नृत्यं च भाति ताले प्रतिष्ठितः।।

तथा

“स ताल कालमानाय क्रिययाः परिकल्प्यते।”

अर्थात् ताल शब्द की निष्पत्ति स्थापना के अर्थयुक्त धातु से होती है। गीत, वाद्य तथा नृत्य ताल से ही शोभा पाते हैं अथवा ताल पर प्रतिष्ठित है।” “संगीत मकरंद” के अनुसार संगीत के धारण करने में सहयोगी काल का क्रियात्मक स्वरूप ही ताल है। संगीतरत्नाकर में ताल के संदर्भ में उल्लिखित है कि गीत, वाद्य और नृत्य की प्रतिष्ठा अर्थ में ताल की अवधारणा संयोजित है।

ताल शब्द ‘ता’ तथा ‘ल’ अक्षरों से बना है। कई ग्रन्थों में ‘ता’ से ताण्डव तथा ‘ल’ अक्षर से लास्य (शक्ति का नृत्य) का बोध बताया गया है।

संगीत-मकरंद के अनुसार - ताल शिव-शक्ति का स्वरूप है, जो मुक्ति तथा भुक्ति का साधन है। दस प्राणों से युक्त ताल को जो जानता है, वही तत्वों का ज्ञाता है।

ताल को परिभाषित करते हुए लिखा गया है - ‘जो संयोग (ताल देते समय) तथा वियोग (दो तालियों के अन्तराल) दोनों ही में कायम रहता है तथा जो दस प्राणों के द्वारा स्थापित है, वह ‘ताल’ नाम से जाना जाता है।

मात्राओं के उच्चारण में लगे समयानुसार इसके तीन स्वरूप स्पष्ट होते हैं - लघु, गुरु और प्लुत। एक मात्रिक काल को लघु, द्विमात्रिक काल को गुरु और त्रैमात्रिक काल को प्लुत कहा गया है।

भिन्न-भिन्न काल के शास्त्रज्ञों ने ताल की अवधारणा तथा उपयोगिता को अपने-अपने अनुसार प्रतिस्थापित किया। प्राचीन शास्त्र ग्रन्थों में ताल दो भागों में विभक्त मिलता है—(1) मार्गी ताल,

(2) देशी ताल। भरत मुनि द्वारा उल्लेखित ताल पद्धति मार्ग' के अन्तर्गत आता है।

मार्ग ताल -

'संगीतशास्त्र में 'मार्ग' शब्द लोक से लिया गया है जिसका अर्थ है - रास्ता, पथ, रीति अथवा प्रणाली। लोक में मार्ग दो स्थानों के बीच की दूरी का द्योतक है, उसी प्रकार ताल में भी इस शब्द के द्वारा दूरी का अर्थात् ताल के आवर्तन की कुल लम्बाई का सूचन किया जाता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि किसी विशिष्ट मार्ग से चलना अर्थात् ताल में किसी विशिष्ट विधि के अनुसार काल प्रमाणों का प्रयोग करना ही मार्ग है। भरतमुनि, मतंग, शारंगदेव या अभिनवगुप्त में से किसी ने भी इसकी परिभाषा नहीं दी है। लेकिन "ध्रुवपात पर टीका करते हुए अभिनव ने इस प्रसंग में इतना कहा—'नियतकाल-कलासम्पातश्च मार्ग उच्यते" अर्थात् निश्चित काल से युक्त कला और पात के समूह को मार्ग कहते हैं क्योंकि ऐसे कला समूह के द्वारा ही ताल की लम्बाई या दूरी निश्चित होती है।

"मार्गताल प्राचीन कालीन मार्गी संगीत में प्रयुक्त होती थी। मार्ग संगीत के सात गीतक-मद्वक, अपरान्तक, उल्लोप्यक आदि तथा सप्त गीतियाँ ऋक्, गाथा, आसारित, वर्धमान आदि में मुख्यतः मार्ग ताल प्रयुक्त किये जाते थे।"

"मार्ग ताल पाँच (5) प्रकार के बताए गए हैं— (1) चच्चत्पुट (2) चाचपुट, षट्पितापुत्रक (4) सम्पक्वेष्टाक (5) उद्घट्ट।

उक्त पाँच तालों का मात्रा विभाजन निम्नवत है -

1. चच्चत्पुट-  $SS \mid S' = 8$  मात्रा
2. चाचपुट-  $S \mid \mid S = 6$  मात्रा
3. षट्पितापुत्रक-  $S' \mid SS \mid S' = 12$  मात्रा
4. सम्पक्वेष्टाक-  $S' \mid SSS \mid S' = 12$  मात्रा
5. उद्घट्ट-  $SSS = 6$  मात्रा

कला-

यह एक बहु अर्थक शब्द है। ताल से सम्बन्धित भी इसके कई अर्थ हैं। काल में कला समय की एक इकाई के रूप में आता है, तो आठों क्रियाओं के

लिए भी कला की संज्ञा दी जाती है। कला मात्रा को भी कहा जाता है तथा दो मात्रा अर्थात् एक गुरु को भी कहा जाता है। कला ताल के पाद भाग को भी कहा जाता है पर इसका उपयोग अधिकतर मार्ग तालों में होता है। मार्गी तालों के विस्तृत प्रकार द्विकल तथा चतुष्कल भी कला शब्द तथा परिमाण से ही बनता है। दक्षिणा, वार्तिक आदि मार्ग का आधार भी कला से ही आरम्भ होता है। इस प्रकार ताल कला एक प्रधान या प्रमुख तात्विक शब्द है।

"भरत ने तीन मार्गों का उल्लेख किया- चित्र, वार्तिक और दक्षिण। शारंगदेव ने चार मार्गों का वर्णन किया है -

मार्गा स्युस्तत्र चत्वारो ध्रुवश्चित्रश्च वार्तिकः ।  
दक्षिणश्चेति तत्र स्याद् ध्रुवके मात्रिका कला ।  
शेषेषु द्वे चतस्त्रेऽष्कौ क्रमान्मात्रः कला भवेत् ॥

शारंगदेव ने भरतमुनि के तीन मार्गों के अतिरिक्त ध्रुव मार्ग भी बताया है जिसमें एक मात्रा की कला होती है। मतंगमुनि ने गीति प्रकरण में शून्य मार्ग का उल्लेख किया है जिसे द्रुत अर्थात् अर्धमात्रिक कला वाला बताया है। उनके अनुसार ध्रुव और शून्य मार्गों का मार्ग तालों में स्वतंत्र रूप से प्रयोग नहीं होता।

प्रत्येक ताल के तीन-तीन रूप होते हैं - यथाक्षर, द्विकल और चतुष्कल। भरतकृत नाट्यशास्त्र में इनका लक्षण निम्नवत् है -

यथाक्षरकृतैः पातैस्तालो ज्ञेयो यथाक्षरः ।  
गुर्वक्षरैश्च विश्लिष्टैः स एव द्विकलो भवेत् ॥  
द्विर्भावाद् द्विकलस्यापि विज्ञेयोऽथ चतुष्कलः ॥

ताल के नाम में अक्षरों का जैसा मान हो ठीक उसी मान से क्रियाएँ होने पर ताल यथाक्षर होता है। वहीं जब गुरु अक्षरों से श्लिष्ट होकर दुगुना हो जाता है तो द्विकल और द्विकल का भी दुगुना होने पर चतुष्कल' होता है।

यथाक्षर, द्विकल और चतुष्कल का परस्पर सम्बन्ध अथवा यथाक्षर से ही द्विकल और चतुष्कल की रचना नाट्यशास्त्र में तीन स्थानों पर दृष्टव्य है - (1) विश्लेषण प्रक्रिया के द्वारा यथाक्षर से द्विकल तथा चतुष्कल रूपों की प्राप्ति में (2) द्विकल और

चतुष्कल की कलाविधि में (3) द्विकल तथा चतुष्कल में अंगुलि-प्रयोग की विधि में।

‘संगीत रत्नाकर में यथाक्षर का लक्षण इस प्रकार है - नामगतैर्गलैस्तत्र यथाक्षरः अयमेककलः’ अर्थात् ताल के नाम में रहने वाले लघु- गुरु के अनुसार यथाक्षर होता है। यथा - चच्चत्पुट में अक्षरों का मान इस प्रकार है -

चच्चत्पुटः - 5 5 1 5

प्रस्तुत ताल के प्रत्येक अक्षरानुसार लघु-गुरु प्लुत आदि मान द्वारा एक-एक क्रिया होने के फलस्वरूप यथाक्षर कहलाता है। अर्थात् ताल के मूल रूप को ही यथाक्षर कहा जाता है क्योंकि उनमें नामानुसार ही क्रियाएँ होती है। भरत ने यथाक्षर को ही शुद्ध कहा है। यथाक्षर में कुल जितने गुरु हो द्विकल और चतुष्कल में उसके ठीक दुगने-दुगने गुरु होते हैं।

यथाक्षर में इकाइयाँ लघु, गुरु, प्लुत में से कोई भी हो सकती है किन्तु द्विकल रूप प्राप्त करने के लिए यथाक्षर की कलाओं की संख्या दुगुनी करके उन्हें गुरुओं में परिवर्तित कर दिया जाता है और फिर पादभाग में 22 कलाएँ रखी जाती है।

यथा -

यथाक्षर-	5	5	1	5'
	SS	SS	11	5'5'
	SS	SS	5	SSS
द्विकल	SS	SS	SS	SS

चतुष्कल के लिए द्विकल की कलाओं की संख्या दुगुनी करके पुनर्योजना कर दिया जाता है।

इस प्रकार भरत और अभिनव के अनुसार यथाक्षर का परिवर्तित रूप द्विकल और चतुष्कल है। किन्तु संगीत रत्नाकर में विश्लेषण के द्वारा द्विकल और चतुष्कल की रचनाविधि का कोई संगत नहीं है बल्कि सीधे कलाओं की संख्या बताई गई है।

यथाक्षर की ही अन्य संज्ञा एककल भी है-

सामान्यतः द्विकल और चतुष्कल के यथाक्षर के स्थान पर एककल का ही प्रयोग होता है। संगीतरत्नाकर में अयमेककलः' कहा गया है अर्थात्

यथाक्षर ही एककल है। परन्तु दोनों में सूक्ष्म अन्तर होने के कारण भरत मुनि ने दोनों में पर्याय के रूप में प्रायः प्रयोग नहीं किया। एककल का ठीक दुगने द्विकल होता है। इसका अर्थ यह है कि एककल में 4 कलाएँ हो तो द्विकल में 8 होने चाहिए और अगर एककल में 3 हो तो द्विकल में 6. मार्गतालों में से दो ताल प्रमुख हैं - चच्चत्पुट और चाचपुट। दोनों के यथाक्षर रूपों में 4-4 क्रियाएँ हैं लेकिन चच्चत्पुट के द्विकल में 8 और चाचपुट में 6 हैं। इसलिए चच्चत्पुट के यथाक्षर को तो एककल कहा जा सकता है। चाचपुट में 6 हैं। इसलिए चच्चत्पुट के यथाक्षर को तो एककल कहा जा सकता है। चाचपुट के यथाक्षर को नहीं। परन्तु क्रिया संख्या में भेद होते हुए भी चाचपुट में यथाक्षर को कुल लम्बाई की अपेक्षा द्विकल की लम्बाई ठीक दुगुनी होती है। इस दृष्टि से चाचपुट के यथाक्षर को भी एककल कहा जा सकता है।

प्राचीन काल में कला भेद के अनुसार तालों को विलम्बित करने की प्रथा थी। मार्गतालों के यथाक्षर या एक कला-सम्पन्न' रूपों में लघु गुरु वर्णों का सार्थक प्रयोग होता था। इन्हीं के कला भेद के अनुसार द्विकल, चतुष्कल, अष्टकल आदि स्वरूप हो जाते थे।

सम्भवतः लय गति को विलम्बित करने के लिए कलाओं का प्रयोग होता रहा हो। आज भी कई तालों को इसी प्रकार विलम्बित करते हैं यद्यपि द्विकल, चतुष्कल आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग लुप्त हो गया है। एक ताल का अति द्रुत लय लेकर अति विलम्बित लय तक बारह मात्राओं से छानवे मात्र तक आज भी गायन वादन में प्रयोग होता है। उसी प्रकार सोलह मात्राओं के अति द्रुत लय का त्रिताल अति विलम्बित लय का तिलवाड़ा बन जाता है। बंगाल में आज भी एककल, द्विकल एवं चतुष्कल तालों को क्रमशः छोटा, मध्यम या बड़ा ताल कहते हैं - जैसे - 7 मात्राओं के दशकोशी ताल को छोटा, 14 मात्राओं के दशकोशी को मध्यम दशकोशी और 28 मात्राओं वाले को बड़ा दशकोशी ताल कहते हैं।

एककल के द्वारा यह सूचित किया जाता है कि ताल के हर खण्ड में एक-एक ही क्रिया होती है।

अभिनव ने यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि एककलादि में लयभेद नहीं होता किन्तु उनकी शीघ्र, मध्य और विलम्ब समाप्ति को व्यक्त करने के लिए अन्य कोई प्रकार न होने के कारण व्यवहार में एककल को द्रुत, द्विकल को मध्य और चतुष्कल को विलम्बित कह दिया जाता है। किन्तु इनमें न तो मार्गी जैसी तीन लय होती है और वे दुगुनी होती हैं जबकि मार्ग भेद में लय की द्विगुणता ही होती है।

### मार्गी और एककलादि का सम्बन्ध

एककल/यथाक्षर				
कला	5	5	1	5'
अक्षरकाल	10	10	5	15
मात्रा	2	2	1	3
कुल अक्षरकला/चित्रमार्ग				
कला	5	5	1	5'
अक्षरकाल	10	10	5	15
मात्रा	2	2	1	3
द्विकल				
कला	5	5	5	5
अक्षरकाल	10	10	10	10
मात्रा	2	2	2	2
वार्तिक मार्ग				
कला	5	5	1	5'
अक्षरकाल	20	20	10	30
मात्रा	4	4	2	6
चतुष्कल				
कला	SS	SS	SS	SS
अक्षरकाल	1010	1010	1010	1010
मात्रा	22	22	22	22
दक्षिण मार्ग				
कला	5	5	5	5'
अक्षरकाल	40	40	20	60
मात्रा	8	8	4	12

“द्विकले द्विकलो मतः ॥

पादभागः कालाना तु चतुष्केण चतुष्कले ॥”

अर्थात् द्विकल के पादभाग में दो और चतुष्कल के पादभाग में चार कलाएं होती है। इस प्रकार ताल की लय और उस पर आधारित ताल के आकार को व्यक्त करने के लिए मार्ग का और ताल की क्रिया के स्वरूप और संख्या को स्पष्ट करने के लिए एककलादि का प्रयोग किया गया है।

द्विकलादि तथा मार्गी में कुछ मूलभूत अन्तर हैं, जो निम्नवत् है -

1. द्विकलादि में क्रियाओं का माप गुरु और मार्गी में मूल के अनुपात में होता है।
2. द्विकलादि में क्रिया संख्या दुगुनी, मार्गी में क्रियाओं का नाप दुगुना होता है।
3. द्विकलादि में लय वही, मार्गी में लय दुगुनी-दुगुनी होती है, अर्थात् द्विकलादि में क्रियाओं की संख्या दुगुनी किन्तु लय वही तथा मार्गी में क्रियाओं की संख्या उतनीही किन्तु लय दुगुनी-दुगुनी होती है।
4. एककल और चित्रमार्ग की, द्विकल और वार्तिक की तथा चतुष्कल और दक्षिण मार्ग की लम्बाई समान है।

### संदर्भ सूची :

1. बृहस्पति श्री कैलाशचन्द्रदेव, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण 1959
2. चौधरी डॉ० सुभद्रा, भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान।
3. विजयलक्ष्मी डॉ. एम., संगीत निबन्ध माला, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006
4. दासगुप्ता डॉ. लिपिका द्वारा वार्तालाप के माध्यम से प्राप्त जानकारी के आधार पर।
5. डॉ. सेन, अरुण कुमार, भारतीय तालों का शास्त्री विवेचन, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2005

## बनारस की सुप्रसिद्ध गायिका श्रीमती गिरिजा देवी का संगीत में योगदान

देश की सांस्कृतिक हृदयस्थली काशी नगरी में समय-समय पर विभिन्न क्षेत्रों में तथा संगीत क्षेत्र में ऐसे-ऐसे कलाकार उत्पन्न हुए हैं जिन्हें सहज ही देश ने 'कला गौरव' की श्रेणी प्रदान की है। इनमें एक नाम विगत चार पांच दशकों से शास्त्रीय संगीत-क्षितिज की देदीप्तमान नक्षत्र देश की सर्वाधिक लोकप्रिय, सुप्रतिष्ठित गायिका काशी की श्रीमती गिरिजा देवी का है। जिनके कंठ माधुर्य से सम्पूर्ण देश ही नहीं अपितु विदेश के लाखों संगीत प्रेमी भी सुपरिचित हो चुके हैं।

आपके पिता श्री रामदास राय जी जो पेशे से जमींदार थे, संगीत कला के अनन्य रसिक प्रेमी तथा हारमोनियम वादन में विशेष रुचि रखते थे। ऐसे पिता की पुत्री के रूप में जन्मजात नैसर्गिक संगीत प्रतिभा सम्पन्न बालिका ने 8 मई 1929 में बनारस में जन्म लिया। आप बचपन से ही अत्यन्त नटखट, तीक्ष्णबुद्धि, बुद्धिमान तथा भावुक बालिका थी। पांच वर्ष की उम्र में आपके पिता ने अपनी प्रतिभा सम्पन्न बालिका के संगीत शिक्षा का भार बनारस के सुप्रसिद्ध सारंगी वादक श्री सरजू प्रसाद मिश्र के सबल कंधों पर डालकर निश्चित हो गये। मिश्र जी ने बड़े ही मनोयोग तथा आत्मीयता से, पारिवारिक स्नेह देकर इस अनगढ़ शिला खण्ड को बड़ी सूक्ष्मता व तत्परता से तराशा। गुरु जी ने आपको सर्वप्रथम ख्याल, तत्पश्चात् ठुमरी की शिक्षा प्रदान की। 15 वर्ष की उम्र में ही आते-आते काशी में संगीत की सजीव प्रतिभा के रूप में आप पहचानी जाने लगी। गुरु जी के निधनोपरांत आपने उनके पुत्र पं. श्रीचन्द्र मिश्र जी से शिक्षा लेना प्रारम्भ किया।

शोध छात्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सन् 1949ई. में 20 वर्ष की अवस्था में सर्वप्रथम आपने अपना पहला कार्यक्रम इलाहाबाद आकाशवाणी में दिया। दूसरा कार्यक्रम विहार के आरा में अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में 1950 में हुआ। इन दोनों कार्यक्रमों के बाद आपकी ख्याति रजनीगंधा की सुगंध की भांति सारे देश में फैल गयी। आकाशवाणी लखनऊ द्वारा प्रसारित कार्यक्रम का पूरे देश में आपको सर्वश्रेष्ठ महिला कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। आपने सम्पूर्ण देश में आयोजित अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों, आकाशवाणी कार्यक्रमों, रेडियो संगीत सम्मेलनों, विशेष संगीत सभाओं में सफल कार्यक्रम दिया। 1-2 फिल्मों में अभिनय करने का अवसर आपको प्राप्त हुआ।

आप बनारस सेनिया घराने की परम्परावादी गायिका हैं। पूर्वी अंग की ठुमरी गाने में आप सिद्धहस्त प्राप्त हैं। आपको ठुमरी की साम्राज्ञी कहा जाता है। लगभग 80 वर्ष की आयु में भी आप शास्त्रीय उपशास्त्रीय एवं लोक सभी प्रकार की गायक शैलियों को तदनुरूप गाने की क्षमता रखती हैं।

आपकी ख्याल गायकी में ध्रुपद की चारों वापिस के दर्शन होते हैं। जिसके फलस्वरूप आपकी गायकी शैली अत्यधिक समृद्ध है। ख्याल गायन की वारीकियों को आपने ठुमरी-दादरा में भी प्रयुक्त किया क्योंकि आपके घराने की यह विशेषता है ध्रुपद को काटकर ख्याल बनाया गया और ख्याल ठुमरियों के छोटे-छोटे बोल बनाये गये तथा ठुमरी छोटे प्रकार को दादरा तथा अन्य उपशास्त्रीय गानों में ढाला गया। आपकी गायकी प्रभावशाली, ओजस-रस-भावयुक्त तथा श्रोताओं को आकर्षित कर

दिव्या मिश्र

वाली है। मोहक और गम्भीर आलाप, तैयार तानें तथा सच्चा स्वर लगाव आपकी साधना का परिचायक है।

ठुमरी गायन में आपने तार सप्तक में अपनी कला की उत्कृष्ट छाप छोड़ी। इसके अतिरिक्त आलापचारी, बोल-बनाव, ठहराव आदि सभी आपकी गायकी में बेजोड़ है। इस प्रकार आपने कभी भी एक विशेष शैली को प्रधानता नहीं दी अपितु आप क्लिष्टतम गायकी ध्रुपद से लेकर सरलतम गायकी लोकगीत एवं भजन को अत्यन्त सरलतापूर्वक गाने की दक्षता रखती हैं।

आपने अपने उज्ज्वल सांगीतिक जीवन में न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों में बल्कि संसार के विभिन्न देशों जैसे- अमेरिका, फ्रांस, रूस, इंग्लैण्ड, नेपाल, यूरोप आदि देशों में भी अपनी अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर काशी की गरिमा बढ़ायी।

आपने अपने पति श्री मधुसूदन लाल की मृत्यु के पश्चात एक साल के लिये पति शोक में कार्यक्रम देना बंद कर दिया। इसी बीच संगीत रिसर्च एकेडमी कलकत्ता द्वारा आमंत्रण को स्वीकार करते हुए वहां रहकर बनारस सेनिया घराने का प्रतिनिधित्व करते हुए अनेक शिष्यों को तैयार किया किन्तु काशी नरेश श्री विभूति नारायण सिंह के सत्परामर्श तथा साग्रह अनुरोध को स्वीकार करते हुए एक वर्ष तक संगीत मंच कला संकाय में बनारस घराने का प्रतिनिधि करते हुए विद्यार्थियों तथा शिक्षकों को अपने घराने की शिक्षा दी।

देश की अनेक ग्रामोफोन कम्पनियों ने आपके रिकार्ड्स एल.पी.ई.पी. कैसेट्स निर्मित कराके आपके गायन प्रतिभा का सम्मान किया। आपने स्वयं अनेक बंदिशों, कजरी तथा ठुमरी आदि की रचना की तथा उसे संगीतबद्ध किया। जिनमें— तुम बिन मोरा जिया नहीं लागे, झिर झिर बरसे सावन, घेरी आयी

है कारी बदरिया, कहनवा मानो जैसे गानों की रचना तथा उन्हें संगीतबद्ध किया।

आपकी बहुमूल्य संगीत साधना, सेवा तथा लोकप्रियता से प्रभावित होकर भारत सरकार ने 1972 में पद्मश्री 1989 में पद्मभूषण, संगीत नाटक अकादमी उ.प्र., सुर सिंगार मुम्बई, प्रयाग संगीत समिति, संगीत श्यामला, उ. हाफिज अली सम्मान, तानसेन पुरस्कार, यशभारती, काशी विद्यापीठ द्वारा डी. लिट् नाद वन्दना, स्वर कोकिला, गान सरस्वती, कंठ शिरोमणि आदि मानद उपाधियों से अलंकृत किया।

संगीत की अनन्य साधिका, विशिष्ट गायिका के साथ-साथ आप कुशल गृहणी भी है। सहर्ष शालीनता, व्यवहार कुशलता, विनम्रता, उदारता, आतिथ्य सत्कार, विद्वत्सत्कार की तत्परता, दुःख कातरता, अनन्य गुरुभक्ति, अभिमान रहित, महान कलाकार के सभी सद्गुण प्रचुर मात्रा में आपमें विद्यमान है। नितान्त अपरिचित भी पहली बार आपसे मिलने के बाद आजीवन आपका अत्यन्त पारिवारिक आत्मीय बन जाता है।

इस प्रकार अपनी ओजपूर्ण, सुमधुर, प्रभावशाली गायिकी, स्नेहील सद्व्यवहार, धर्मपरायणता व उदारता से पूरे देश में संगीत जगत की प्रतिष्ठापरक लोकप्रियता अर्जित कर आपने अपने सुयश से काशी का गौरव बढ़ाने में अपना महती तथा सक्रिय योगदान दिया। अपनी जन्मभूमि, साधना भूमि, गुरुभूमि, प्रणम्यभूमि काशी के प्रति समर्पित साधिका गिरिजा देवी की निष्ठा श्लाघनीय है।

### संदर्भ सूची :

1. मिश्रा प. कामेश्वरनाथ काशी की संगीत परम्परा-
2. श्रीमती गिरिजा देवी अभिनन्दन ग्रंथ-तथा उनसे भेंट के कुछ अंश

## गायन, वादन तथा नृत्य की त्रिवेणी : काशी

ज्ञानेन्द्र कुमार पिपासा

विश्व की एक अति प्राचीन गंगा के सुरम्य तट पर अवस्थित भगवान शंकर के त्रिशूल पर विराजमान, नगरी काशी है। काशी का नामांतर वाराणसी है जहां भगवती जान्हवी उत्तरवाहिनी होकर धनुषाकार तीन ओर से ऐसी लपटी है मानो इसको शिव की प्यारी जानकार गोद में लेकर आलिंगन कर रही है और अपने पवित्र जलकण के स्पर्श से तापतय दूर करती हुई मनुष्य मात्र को पवित्र करती है। यह हिन्दुओं का एक महान पावन तीर्थ स्थान है। जो कि अर्ध चन्द्राकार उत्तरवाहिनी गंगा को धारण किये हुए उत्तर प्रदेश के वक्षस्थल पर विराजमान भारत की सांस्कृतिक राजधानी है। बाबा विश्वनाथ की नगरी होने के कारण इसको मोक्ष प्रदायिनी तथा ब्रह्म विद्या की राजधानी कहा गया है। यह भगवान शंकर का द्वितीय कैलाश है, जो कि अविनाशी है। आदिदेव महादेव की नगरी होने के कारण कहा गया है कि यहां 33 कोटि देवताओं का निरंतर वास रहता है। युग-युग से यह नगरी सुर-नर-मुनिजन द्वारा पूजित तथा सेवित होता रहा है।

काशी भारतीय संस्कृति, साहित्य साधना की सिद्ध-पीठ स्थली रही है, यह एक ऐसा ज्योतिर्मय ज्ञान-प्रदीप है जिससे प्रस्फुटित ज्ञान-रस्मियां ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न संकायों को अनुशासित करती रही है। काशी अपनी समूची परिक्रम भूमि में आध्यात्मिक स्वरूप को रूपायित करती है और काशी इस स्थल की भौगोलिक सीमा अर्थात् उत्तर में वरुणा और दक्षिण में अस्सी के मध्य स्थित नगर की संरचना को प्रस्तुत करती है। यह एक वर्ग की नगरी नहीं है, यह भारत का एक ऐसा विशाल हृदय

है कि इसमें जो आता है समाहित हो जाता है। यम का धर्म विश्व धर्म है, यह विश्व के सारे लोगों को ज्ञान पिपासा शान्त करने वाली नगरी है। विश्व के अधिकांश धर्म काशी से ही निकले हैं। यह सर्वविद्या सर्वधर्म की और कौशल-शिल्प की राजधानी है।

लिंग पुराण में तो यहां तक कहा गया है कि-

“कैलाशादाधिका काशी, काशी सर्वप्रकाशिका।  
कैलाशेषंकरीप्येक, काश्यां सर्वे अपि शंकराः।”

अर्थात्-सर्वत्र प्रकाश फैलाने वाली काशी कैलाश से उपर है, क्योंकि कैलाश में तो एक शंकर है, यहां तो सर्वत्र शंकर ही शंकर है। स्कन्द पुराण का तो एक खंड ही काशी की समर्पित है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में “काशी को ही संसार कहा गया है। संसार में जो कुछ भी शक्तिशाली और कल्याणकारी है, सब यहां सूक्ष्म भाव से उपस्थित है। भारत के सभी पवित्र स्थल और जलतीर्थ का विद्यमान है। सभी काल यहां है, और सभी ग्रहों के स्वामी जो समय के नियंता है, काशी में उतरकर निर्देश प्राप्त करते हैं।

यह ब्रह्मरूपी काशी भी आदि-अंतहीन है इसी से कहा गया है कि यह अविमुक्त का नादब्रह्मयी नगरी है। जहां सर्वदा “ओम्” नाम तारक मंत्र गूंजता रहता है। शायद यही नदर भोलानाथ ने तांडव किया था, यहीं बाबा विश्वनाथ का डमरू बजा था और इसी से उपजे थे संगीत ताल-लय-स्वर। यही माता सरस्वती ने वीणा बजा किया होगा और शायद यही चतुरानन ब्रह्म प्रथम साम-गान भी किया होगा।

काशी के प्राचीन काल से ही संगीत नगरी के रूप में देश की सांस्कृतिक राजधानी के गौरव को प्राप्त रही, यहाँ संगीत कला की उन्नति के लिए जिज्ञासुओं की व्यवस्था का वर्णन बौद्धकाल से ही प्राप्त होता है। संगीत के प्रति विशेष आदर-प्रेम काशीवासियों में प्राचीन काल से ही चली आ रही है जिसके कारण लोक संगीत में प्रचलित अनेक शैलियों शास्त्रीय संगीत की परिधि में न केवल प्रतिष्ठित हुई अपितु अपना विशेष स्थान बनाया।

काशी के प्रमुख मंदिरों, देवस्थानों में कीर्तन, भजन, नृत्य संगीत का भावपूर्ण प्रदर्शन होता रहा है। जिसने यहां के नागरिकों में संगीत रुचि उत्पन्न कर मात्र उन्हें परिष्कृत ही नहीं किया अपितु संगीत की अनेक शैलियों, वारीकियों एवं शास्त्रीयता से परिचित कराने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

काशी की यह सांस्कृतिक चेतना, विभिन्न धार्मिक उत्सवों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों के साथ ही साहित्य एवं संगीत कला से जुड़े युग पुरुषों के योगदान में भी देखा जा सकता है। समस्त उत्तर और पश्चिम भारत तथा नेपाल में यहां के संगीत शिल्पियों का प्रभाव या दूर-दूर प्रांतों और राजदरवारों में यहां के कलाकार आते रहे हैं। संगीत रत्नाकर के एक श्लोक-“गीतं वाद्यं नृत्यं च त्रयं संगीतं मुच्यते” अर्थात् गायन-वादन तथा नृत्य इन तीनों कलाओं के सामंजस्य को संगीत कहते हैं। संगीत रत्नाकर के इस श्लोक का संपूर्ण रूप में काशी के सांगीतिक जगत में देखने को मिलता है। यहां गायन, वादन, नृत्य इन तीनों कलाओं का संपूर्ण रूप से विराजमान रहा है।

गायन-वादन एवं नर्तन की विविध शैलियों के प्रणेता मार्गदर्शक विद्वान तथा कलाविद के रूप में काशी की विभूतियों ने संगीत जगत में अपनी अपार लोकप्रियता, कीर्तिमान स्थापित कर इस नगरी का गौरववर्धन किया है।

शास्त्रीय संगीत की मान्यता प्राप्त शैलियों अर्थात् ध्रुपद-धमार से लेकर लोकसंगीत की सामाजिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित होली, चैती, कजली आदि अनेक विधाओं को शास्त्रीय संगीत में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय काशी के ही कलाकारों को है। काशी के कलाकारों ने अपनी मौलिकता एवं विशेषताओं

के आधार पर अपनी अलग-अलग पहचान बना रखी थी और सभी कलाकार एक दूसरे की मौलिक विशेषताओं का हृदय से पूर्ण सम्मान करते थे।

किसी कलाकार में ध्रुपद, धमार, होली गायन पर अधिकार था तो कोई ख्याल गायन में, किसी में टप्पा-दुमरी अंग में विशेषाधिकार तो कोई सुरीलेपन, मिठास में, कोई लयकारी प्रधान था तो किसी में स्वतंत्र वादन शैली थी, तो कोई संगीत में बेजोड़ स्थान रखता था। किसी-किसी कलाकार में तो ऐसी विशेषता रही कि जो चारों पट की गायकी एवं वादन शैलियों में पारंगत होता था।

ठाकुर दयाल मिश्र जी के पुत्र-द्वय प्रसिद्ध मनोहर जी ने गायन के क्षेत्र में संपूर्ण भारत में बनारस की कीर्तिपताका फहरा दी और “श्रुतिधर” का खिताब पाया। अवध के नवाब सादात अली ने इन्हें अपने दरबार में स्थान दिया तथा बहादुर शाह जफर इनसे संगीत सीखते थे। इन्होंने के वंश परंपरा में एक ऐसी जोड़ी पनपी जिन्हें “ध्रुपद के धुरंधर” और ‘संगीत के राक्षस’ जैसे विरुद्ध से नवाजा गया था। इनके आगे कोई भी गाने का साहस नहीं करता था। ये थे पं. शिवा-पशुपति मिश्र जी, जिनके नाम का डंका सारे भारत में बजता था। परंपरा धीरे-धीरे आगे बढ़ी और उसमें पं. रामकृष्ण मिश्र, पं. भवानी सेवक मिश्र तथा पं. विष्णु सेवक मिश्र जी हुए जिन्होंने अपनी-अपनी कलाओं से बनारस गायन का नाम रौशन किया अन्य विद्वानों में बड़कू मियां, वासंत खां, अलीवख्ता, रसूल बख्ता, दरगाही लाल, जयकरण जी, अक्खो जी, दुमरी के बादशाह जगदीप जी, बड़े रामदास जी, छोटे रामदास जी, श्री चंद मिश्र, हरिशंकर मिश्र, महादेव प्रसाद मिश्र, जालपा प्रसाद मिश्र, राजन-साजन मिश्र, अमरनाथ पशुपतिनाथ मिश्र, गिरिजादेवी, सिद्धेश्वरी देवी, छन्नू लाल मिश्र इत्यादि गायकों ने सारे विश्व में बनारस की ख्याति को बढ़ाया है।

काशी के अवनद्य वादन शैली ने अपने व्यक्तिगत मनन-चिन्तन कर उस युग तक लोकप्रिय समस्त अवनद्य लयवाधों, पखावज, ढोलक, नक्कारा, तबला इत्यादि की वादन शैली को एक साथ समायोजित करके एक नवीन वादन शैली को जन्म दिया जो संगीत जगत के समझ अपनी अभिनव वादन क्षमता

के साथ "बनारस बाज" के नाम से प्रसिद्ध होकर आज भी अपना अधिकार बनाये हुए हैं।

बनारस के मृदंगाचार्य पखावजियों की लंबी सूची है इनमें से कुछ प्रमुख मदनमोहन, भोलानाथ पाठक, मन्नु जी, अमरनाथ मिश्र, वृन्दावनदास, रामदेव पांडे, सुबोध बाबु हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी पखावज बजाते थे।

तबला वादन के क्षेत्र में पं. राम सहाय ने एक नयी परंपरा का प्रवर्तन किया जिसे 'बनारस बाज' के नाम से पहचाना जाता है। आज यह विश्वविख्यात तबला वादकों का नगर है जिनमें से कुछ प्रमुख हैं-कायदा सम्राट जानकी सहाय, भैरो सहाय, मौलवी राम, बाचा मिश्रा, सूरज, वीरूजी कई महाराज, अनोखेलाल, शामता प्रसाद, किशन महाराज, शारदा सहाय, रामजी मिश्र, ईश्वरलाल मिश्र, रामकुमार मिश्र, लच्छू महाराज इत्यादि।

बनारस की शहनाई तो मंगल वाद्य के रूप में सारे संसार में विख्यात है, "सुबहे बनारस" शहनाई की धुन सुनकर ही जगती है। कोई भी संस्कार हो शहनाई तो बजती ही है। भारत रत्न स्व. उस्ताद विस्मिल्ला खां जिनके चमत्कारी वादन ने सारे संसार को मोह लिया। इनके अलावा स्व. विलायत, स्व. नंदलालजी, विष्णु प्रसन्ना जी, रघुनाथ जी, स्व. शमदाद खां, श्यामलाल जी, खादिय अली इत्यादि।

बनारस के हारमोनियम के आचार्यों में गनपतरावजी, श्यामलाल जी, हरेन्द्र जी, वीरू भट्टाचार्य जी, ध्रुवजी और ईश्वरलाल नेपाली जी जैसे कलाकार बनारस की दे हैं।

बनारस के बांसुरी वादकों में श्यामलाल, रघुनाथ, तारकनाथ जी राधेश्याम आदि सुविख्यात रहे हैं। वीणावादकों में संतुबाबू और पं. लालमणि मिश्र जी ने ख्याति अर्जित की थी। विश्वविख्यात भारतरत्न

पं. रविशंकर जी भी बनारस की मिट्टी से ही हैं। यहां के नामी सितारवादकों में उस्ताद मुस्ताफ अली, आशिक अली, लोनी गोपाल इत्यादि प्रमुख हैं।

काशी सारंगी वादकों का गढ़ रहा है। एक से बढ़कर एक कलाकार यहां हुए हैं, जिनमें सोहिनी सिद्ध तमाकू जी, चांद-सूर से शंभू और सुमेरु जी, सूर-सहाय जी, आशिक अली, मुंशीराम जी, गोपाल जी, वैजनाथ जी, वच्चालाल मिश्र जी, विनायक, बंने गोपाल जी, गंगा प्रसाद, नारायणदास मिश्र, भगवानदास मिश्र, हनुमान प्रसाद मिश्र इत्यादि हैं।

नटराज की नगरी काशी सदा ही नाचती रही है और नाचती रहेगी। यहां तो आनंद विभोर हो नर्तक भी नाचते थे। कथक नृत्य को लखनऊ और जयपुर के नाम से जाना जाता है। पर उसकी एक महत्वपूर्ण कड़ी और शैली बनारस की है कभी जगदीप जी, अयोध्या प्रसाद, बाबूराम जैसे नर्तक थे। लखनऊ के कालिका प्रसाद तो 'बनारस वाले' कहलाते थे।

नृत्य में बनारसी शैली के अप्रतिम आचार्य व सुखदेव महाराज, जिनके यशस्वी परिवार ने सारे देश में कथक नृत्य की धूम मचा दी। इस परिवार ने सितारा, तारा, अलकनंदा, गोपीकृष्ण, कृष्ण प्रसाद, माधव, रामकृष्ण, अपमूर्णा, दुर्गालाल, जयंतीमाला जैसे श्रेष्ठ कलाकार दिये हैं। भारतनाट्य के आचार्य सी.वी. चन्द्रशेखर व बनारस के हैं। नटराज उदयशंकर जी जन्मभूमि बनारस ही रहा है।

इस प्रकार सारांश रूप में स्वतः पूर्णरूपेण स्पष्ट है कि गंगा, यमुना, सरस्वती की तरह गायन, वादन तथा नृत्य की त्रिवेणी के रूप में काशी प्राचीन काल से ही गौरवान्वित है और संपूर्ण विश्व को संगीत रूपी प्रकाश से प्रकाशित किये हुए हैं।

## लोक संगीत परंपरा - कजरी

इन्द्रदेव चौधरी

आदि काल से ही मानव जीवन में संगीत का बड़ा महत्त्व रहा है। ब्रह्मा, नारद और सरस्वती से निकला यह सुर और लय मानव जीवन ही नहीं वरन् सृष्टि के समस्त जीवों में आत्मा की तरह विद्यमान है। कहा जाता है कि हर एक किलोमीटर पर प्रकृति की जलवायु परिवर्तित हो जाती है। और इसी परिवर्तन पर आधारित मनुष्य का रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार और बोल-चाल तक बदल जाती है। इसी बदलाव को हम लोक संस्कृति कहते हैं। वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत एवं रामायण जैसे अति प्राचीन ग्रंथों में भी 'लोक' शब्द का बहुलता से प्रयोग मिलता है। संसार के सभी जगहों पर रहने वाले मनुष्य अपनी-अपनी परंपरा का पालन करते हैं। सदियों पुराने रीति-रिवाजों, पारिवारिक पर्वों एवं पारिवारिक बंधनों का पालन करते हुए सर्व शक्तिमान ईश्वर पर अटूट विश्वास रखते हैं।

मानव हृदय की भावोत्तेजना, अपनी देशज एवं क्षेत्रीय बोली में निबद्ध होकर निष्कल, सरल एवं स्वाभाविक भाव, गीतों के बोल बनकर लयात्मक आरोहावरोहों में जब प्रवाहित होने लगी और प्रवाहित होकर जन मानस के मन को रंजित करने लगी तो उसे 'लोकगीत' नाम दिया गया। भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों की अपनी लोकविधा है। और हर एक विधा अपने आप में सर्व सम्पन्न एवं सुमधुर है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश की लोक विधाएँ भी काफी प्रचलित एवं सुमधुर हैं। ऐसी ही अनेकानेक प्रचलित विधाओं में से एक 'कजरी' जो उत्तर प्रदेश की लोक विधाओं में काफी प्राचीन एवं प्रचलित विधा है, जो सर्व सुलभ होने के कारण जन समुदाय को काफी मनोरंजन प्रदान करने वाला है।

पारंपरिक लोक संगीत विधाओं की कई परंपराएँ हैं जिसका मानव जीवन में काफी महत्त्व है। ऐसे परंपरागत लोक संगीत परंपरा की कुछ चर्चित परंपरा जैसे ऋतु गीत परंपरा, संस्कार गीत परंपरा, मेला गीत परंपरा, श्रम गीत परंपरा आदि जन-जन में विख्यात है। ऋतु गीत के अंतर्गत आने वाली परंपराओं में सावन के महीने में वर्षा ऋतु के आगमन पर लोगों के दिल में आनंद और हर्ष का उन्माद होता है, जिसे व्यक्त करती है 'कजरी' गान।

उत्तर प्रदेश के मीरजापुर जिले के विंध्याचल परिक्षेत्र में जन्मा कजरी लगभग सम्पूर्ण भारत में अपना पैर पसार चुका है। महाकाली के काले रूप से लेकर, शिव के वियोग में जली पार्वती की कथा से जुड़ी कई किवदंतियाँ प्रचलित हैं। मूलतः इस गायन में एक तरफ मिलन की आशा, रास थामे संयोग के आतुर श्रृंगार हैं तो दूसरी तरफ आँसू और वियोग की बाँवली आहें भी हैं, एक ओर खेतों में बस्त्र उटाए धान रोपनियों की आशा तो साथ में ही हैं झूले की पटेंग में उत्तेजना भरती नसों की जवान उष्मा के चित्र। यह एकल गायन शैली का गीत भी है और दुनमुनियों और चौलर जैसा सामूहिक गीत खेल भी। यह मूलतः स्त्रियों द्वारा गाई जाने वाली घरेलू समूह गीत है, पर पुरुषों का भी इससे भरपूर रस-राग है।

पावस ऋतु के तीन महीनों में, 'सावन की हरियाली तीज से लेकर हरतालिका तीज तक कजरी गायन का शिखर काल है।' इन दोनों तीजों के बीच कजरी तीज पड़ती है। इस कजरी तीज पर तो मानो कजरी गायक-गायिकाएँ एवं श्रोता गली-गली में दिखने लग जाते हैं। महिलाएँ कजरी व्रत भी करती

हैं। और उस व्रत वाले दिन कजरी खेलती भी हैं, साथ ही साथ कजरी गीत भी गाती जाती हैं, जैसे:-

कइसे खेलन जइबू सावन में कजरिया  
बदरिया घेरि आई ननदी ॥

सावन के महीने भर महिलाओं की अठखेलियाँ और सजने-सँवरने का काम चलता रहता है। जिसमें उनकी हंसी-ठिठोली भी चरम सीमा पर रहती है।

पिया मेंहदी लियाद मोतीझील से  
जाइके साइकिल से ना ॥

उक्त पारंपरिक बनारसी कजरी इसी भाव को दर्शाता है। विरह की वेदना भी कजरी गीतों में बखूबी देखने को मिलता है। जैसे:-

सूना-सूना लागे आज ई सवनवाँ ना ॥

एवम्

मिर्जापुर कइल गुलजार हो  
कचौड़ी गली सून कइल बलमू ॥

सम्पूर्ण सावनिक फुहार में महिलायें झूला का भी आनन्द लेती रहती है। इसलिए झूला गीत की बहुलता कजरी के तौर पर ही देखने को मिलता है। जैसे:-

झूला लगे कदम की डारी  
झूले श्यामा प्यारी ना ॥

कजरी के साथ-साथ मीरजापुर के कुछ और भी लोक गायन शैलियाँ काफी प्रसिद्ध हुई हैं जैसे:- करमा, बिरहा, कहरवा, कोलदह आदि। इन गायनों में स्वर, शैली और सामुहिकता के जो तत्व हैं उनमें से कई कजरी में भी प्रवेश करते जा रहे हैं। मध्य प्रदेश, बिहार एवं बुंदेलखंड के कई स्थानीय गायन तत्वों का भी कजरी पर प्रभाव पड़ रहा है। इसीलिए कजरी दखिनहिया, कजरी पटनहिया, कजरी बनारसी, कजरी ठुमरी अंग एवं कजरी बुंदेली जैसे कई नाम पड़ गये।

अब तो कजरी पर शास्त्रीय संगीत का प्रभाव भी पड़ने लगा है। बड़े गुलाम अली खाँ, उस्ताद

विस्मिल्लाह खाँ, विदुषी सिद्धेश्वरी देवी, विदुषी वागेश्वरी देवी, विदुषी गिरिजा देवी, पंडित छन्नूलाल मिश्र जी के अनेक गायन एवं वादनों में कजरी का सांगितिक छाया राग पीलू, काफी, तिलक कामोद, भैरवी इत्यादि के अंतर्गत प्राप्त होता है।

कजरी यूँ तो मूलतः श्रृंगार प्रधान है परन्तु इसमें वियोग पक्ष, भक्ति रस एवं वीर रस का समाहित हैं। अक्षर, मात्रा, छन्द, स्वर, कथ्य, भाव की दृष्टि से अब कजरी में अनेक प्रयोग होने लगे हैं। फिल्मों में भी कजरी लगभग व्याप्त है। प्रसिद्ध बनारसी कजरी जैसे:-

बरसे बदरिया सावन की ॥

जो कि उ. विस्मिल्लाह खाँ साहब हमेशा ही अपने शहनाई में बजाते थे, आज फिल्म में इसका एक हिन्दी रूप प्राप्त होता है। जैसे:-

दिल का खिलोना हाय टूट गया ॥

प्राचीन कजरी गायन शैली में अरे रामा तथा ए हरी जैसे शब्द विशेष रूप में मौजूद रहती थी। गुजरात जमाने में कजरी-दंगल तथा कजरी-अखाड़ा जैसे मंच काफी प्रचलित थे।

आज 21 वीं सदी के इस शहरी एवं सिनेमाई हवा के चलते कजरी बस एक नाम भर ही रह गया है, दूसरी ओर शास्त्रीयता के नाम पर भी कजरी में काफी अंतर एवं कठोरता आती जा रही है। गायक, श्रोता, कवि अखाड़ों आदि के आधुनिक बदलते आर्थिक परिवेश में कजरी की पारंपरिक शैलियों का दिन काफी अंधकारमय होता दिख रहा है। अतएव इस मनमोहक एवं सुमधुर पारंपरिक धरोहर को बचाने की जिम्मेदारी लोक गायकों, कवियों, श्रोताओं एवं समाज सुधारकों के साथ-साथ विद्वानों, मनीषियों एवं संगीत संस्थाओं की भूमिका पर निर्भर है।

संदर्भ सूची :

1. उपाध्याय डॉ. कृष्णदेव, भोजपुरी लोकगीतों का अध्ययन
2. सिंह डा. अणिमा, मैथिली लोकगीत

# रवीन्द्रनाथ टैगोर की संगीत जगत को देन

पल्लवी मिश्रा

रवीन्द्र नाथ ठाकुर को गुरुदेव के नाम से जाना जाता है। आप विश्वविख्यात कवि, साहित्यकार, दार्शनिक और भारतीय साहित्य के एकमात्र नोबल पुरस्कार विजेता हैं। बांग्ला साहित्य के माध्यम से भारतीय सांस्कृतिक चेतना में नयी जान फूँकने वाले युगद्रष्टा थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय संगीत को एक अभिनव स्वर से परिचित कराया है। जो उस समय पूर्णतः अज्ञात था। (टैगोर जी ने करीब 2230 गीतों की रचना की रवीन्द्र संगीत बांग्ला संस्कृति का अभिन्न अंग है) प्रकृति के प्रति गहरा लगाव रखने वाला यह प्रकृति प्रेमी ऐसा एकमात्र व्यक्ति है जिसने दो देशों के लिए राष्ट्रगान लिखा।

रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने भारतीय संगीत को एक अभिनव स्वर से परिचित कराया है, जो उस समय तक पूर्णतः अज्ञात था। उनके गीतों ने जीवन के प्रवहमान क्षणों की चित्तवृत्ति को अभिव्यक्ति दी है। भैरवी रागिनी के भावात्मक निवैयक्तिक प्रातः को अब अनेक प्रांतों में वैयक्तिक रूप प्रदान किया गया है- वांसती प्रातः, पावस का भीगा उल्लासहीन प्रातः, पतझड़ का प्रातः, वेदना-कलित प्रातः, हर्ष से प्रोज्ज्वल बना प्रातः, प्रेम से कोमल और उष्ण बना प्रातः, प्रियतम से विश्लेषजन्य वेदना से कंपित-थकित प्रातः। इन समस्त प्रातः-वेलाओं ने और अन्य अनेकों ने भी ठाकुर के गीतों में रागिनी का रूप ग्रहण किया है। अपनी सार्वभौमता को रंच-मात्र भी नष्ट किए बिना ये गीत ठोस-मूर्त और वैयक्ति हो गए हैं।

## कला के कार्य

कला विशिष्ट के संबद्ध है और इसका प्रयोजन मूर्त सार्वभौम को अभिव्यक्त करना है; अमूर्त सार्वभौम

को नहीं, जो कि विज्ञान के क्षेत्र में अंतर्गत है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में, जो कि निवैयक्ति है, वैयक्तिक भावावेगों की स्वायत्तता तथा विभिन्नता के लिए निवैयक्तिक भावशून्यता की कठोर सीमाओं के भीतर अधिक गुंजाइश नहीं है और, सर्जना वैयक्तिक का प्रकाशन है। कला का कार्य व्यक्ति के विचार, भावावेग और भावुकता का साक्ष्य प्रस्तुत करना है। रवीन्द्रनाथ के गीतों ने व्यक्तिगत प्रगीतात्मक मूल-स्रोत को अमूर्त शास्त्रीय संगीत की सीमातीत विशालता से परिचित कराया है।

भारतीय संगीत को रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक महान् देन है। भारतीय संगीत के विकास में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों ने एक अन्य तत्त्व भी प्रस्तुत किया है। भारतीय शास्त्रीय दरवारी संगीत विभिन्न राग-रागिनियों के असंबद्ध सूत्रों के गुंफन का श्रेष्ठ उदाहरण है। पुरुषत्वहीन गीतों को पोषित करने के प्रयत्न में सुंदर रागिनियों ने स्वयं को निःशेष भाव से अर्पित कर दिया है। रागिनी मात्र एक पात्र थी, जिसमें दकियानूसी विचारों को भर दिया जाता था। रवीन्द्रनाथ का संगीत अद्वितीय गीतात्मकता और उन्नत रागिनी का सुंदर संगम-स्थल है। प्रगति और रागिनी के मध्य कोई विरोध नहीं है। शब्द रागिनी में अवरोध नहीं उपस्थित करते और रागिनी प्रगति के आधिपत्य को स्वीकार नहीं करती। जैसा कि परंपरागत भारतीय संगीत में व्यवहृत है, ठाकुर के लिए गीत के शब्द रागिनी के ढाँचे को बनाए रखने के लिए उपकरण-मात्र ही नहीं थे। ठाकुर की राय में गीत रागिनी ही नहीं है, अपितु वह उससे अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है। यह तो गहन भावावेग

से अनुस्यूत शब्दों का-उन भावावेगों को प्रभावोत्पादक स्वरात्मक रूप देने के योग्य-रागिनी के साथ मिश्रण है।

### लयात्मक गत्यात्मकता

गीतों के क्षेत्र में भी कवि ने नवीन लयों की सृष्टि की है। सचमुच गीत और कविता की लयों में एक मौलिक अंतर है। कविता में शब्द अपने स्वाभाविक उच्चारणों को कम या अधिक मात्र में सुरक्षित रखते हैं, किन्तु वे ही शब्द जब गीत की रागिनी के साथ गूँथ दिए जाते हैं, तो या तो उन्हें बढ़ा दिया जाता है या घटा दिया जाता है। गीत के शब्दों के स्वाभाविक उच्चारणों को नए आयाम प्रदान किए जाते हैं। गीत की लय अपना निजी मार्ग होता है। गीतों के भावात्मक विषयों को दृष्टिपथ में रखते हुए ठाकुर ने लयात्मक रूपांतरों की सृष्टि की है। कभी-कभी उन्होंने संयुक्त व्यंजनो के साथ शब्दों के प्रयोग के द्वारा इन रूपांतरों को प्रस्तुत किया है- 'प्राण चए चाक्खु ना नए, नील अंजन घन', सर्व सर्वतरे देह'।

कभी-कभी ध्वनि के आदर्श के अनुसार शब्दों की व्यवस्था के द्वारा लयात्मक नवीन परिवर्तन की सिद्धि की गई हैं कि जैसा कि 'बाजो रे, वंशरी बाजो' गीत की इस पंक्ति में है- 'मधुकर पदभर कंपित चंपक अंजने ।'

कभी-कभी किसी शब्द के विशेष अक्षर पर बल देते हुए ये लयात्मक रूपांतर प्रस्तुत किया गए हैं। उदाहरणार्थ, इस पंक्ति में प्रत्येक शब्द के द्वितीय अक्षर पर बल देते हुए लयात्मक रूपांतर की सृष्टि की गई है- 'तुमि तो शाये जाबये चाले'

लयात्मक प्रभाव की प्राप्ति के लिए ठाकुर ने गीत के शब्दों के अक्षरों के मध्य यति की भी व्यवस्था की है; जैसे 'मम चित्तये निति नित्तये' और 'धीरे-धीरे' धीरे बवों आदि गीतों में।

इस प्रकार पंक्ति में नए गणात्मक आधारों को प्रचलित करते हुए ठाकुर ने नए तालों की सृष्टि की है; जैसे- एक पंक्ति में 3 14 14 1 के आघात से 'एकादशी ताल', 3 12 13 1 के आघात से 'रूपक ताल' और एक पंक्ति में 3 16 के आघात से 'नव ताल'।

### विकास

ठाकुर के गीतों में विकास के चार विभिन्न स्तरों का दर्शन होते हैं। प्रथम काल में ठाकुर के गीतों में रागात्मक ढांचे में सौन्दर्यवर्द्धक मुहावरों का अवहेलना-सी मिलती है। उन गीतों में एक प्रशा गौरव परिलक्षित होता है। और गीतों में एक प्रशा स्वरों के बीच धनिष्ठ सामंजस्य भी मिलता है जहाँ तक रूप का प्रश्न है, वे ठीक-ठीक शास्त्रीय हैं यद्यपि रवीन्द्रनाथ की प्रारंभिक रचनाओं में भावात्मक की एक विस्तृत शृंखला प्राप्त होती है, तथा शास्त्रीय संगीत की रूपात्मक परिसीमा के भीतर सीमित नहीं है।

रवीन्द्रनाथ की अनुभूति थी कि स्वीकृत आदर्श रूपों को अक्षरों में अनुरूप बनाते हुए अपने प्रभाव इन्द्रियजन्य ज्ञान और चैतन्य-सूक्ष्म-बोध के संपूर्ण सरगम का संप्रेषण संभव नहीं है। परंपरागत रूपों के सैद्धांतिक निरीक्षण के द्वारा भाव तथा अर्थ इत्यादि का सूक्ष्म अभिव्यक्ति करने की उनकी विभिन्न राग-रागिनियों के मिश्रण से नई रागिनियों की सृष्टि का कार्य हाथ में लिया था, जिससे व्यक्तिगत चित्तवृत्ति को गीतों में दर्शाया जा सके। ठाकुर ने प्रचलित परंपरागत रागिनियों के मिश्रण यांत्रिक सारग्राहिका के ही परिणाम नहीं है। वे प्रामाणिक संश्लेषण का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक भावावेग की व्यक्तिगत विशेषता की शक्तिमत्ता के संबंध में वे प्राचीन आचार्यों के द्वारा किए गए रागिनियों के मिश्रण में विभिन्न हैं।

तृतीय काल में हम देखते हैं कि ठाकुर भारतीय संगीत की नियमनिष्ठता और व्यामिश्रण से ऊबकर लोक-गीतों की ओर प्रवृत्त हुए और उन्होंने अपने अस्तित्व को लोक-रागिनी की उस जीवंत धारा में निमज्जित कर दिया, जो संपूर्णता: इसी भूमि में निःसृत हुई थी। लोक-गीतों के रागिनी-रूपों की ग्राम्यता ने अपनी स्वाभाविक अपर्याप्तता ठाकुर को समक्ष व्यक्त कर दी। अपनी रागिनी-रचना के चतुर्थ काल में ठाकुर ने नई रागिनियों के सर्जनार्थ लोक-धुन को शास्त्रीय धुन के साथ समन्वित कर दिया।

### परम्परा का सार

रवीन्द्रनाथ के संगीत का स्तर सर्वत्र भाषा के अनुरूप ही होता है और उनके गीत निवैयक्तिक आदर्श रूपों को प्रमाणित करने के अभिप्राय से नहीं लिखे गए थे। अपेक्षाकृत अधिक उत्साही उस्तादों को इससे नई चेतना मिलनी चाहिए कि वे केवल शास्त्रीयता की रूपात्मक निर्माण-कला में चिपके रहने के प्रलोभन को ही स्वीकृत न करें और गीतों को अपने भावात्मक विषयों से वंचित न करें।

### जीवन-शक्ति

यह सावधानी 'तान' के लिए भी आवश्यक है। तीव्र गति में राग के स्वरों का विकास ही 'तान' है। रवीन्द्रनाथ ने इसके एक अनंत परिष्कृत विस्तार की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होने आवश्यकता से अधिक अलंकृत और घटिया किस्म के संगीत की अपेक्षा सूक्ष्मग्राही, मृदुल एवं स्वर्णिम संगीत को अधिक पसंद किया। रागिनियाँ स्वरों ने कहा है—“उन दिनों भारतीय संगीत एक जीवंत शक्ति थी।” गीत के मौलिक उपादानों में प्रगति भी है, जिसका अर्थ है—‘शब्दों की भावात्मक व्यवस्था।’

### गंभीर अंतदृष्टि

रवीन्द्रनाथ भारतीय शास्त्रीय संगीत की अंतर्धाराओं के विषय में एक गहन अंतदृष्टि रखते थे। वे भारतीय संगीत के भविष्य, इसकी विकासात्मक प्रक्रियाओं तथा उन साधनों की, जिनके द्वारा वह स्वयं को पुनर्जीवन प्रदान कर सकता था, भविष्यवाणी करने की क्षमता रखते थे। किन्तु सर्वथा नवीन की सर्जना की एक निबन्ध धुन एक आपत्तिजनक प्रवृत्ति

हो सकती है, जो अंततः अपने ही प्रयोजन को पराभूत कर देती है। विशुद्ध रचनात्मक कार्य के लिए सर्वथा नावीन्य की यह उन्नत प्रवृत्ति विरोधात्मक है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा—“जब मनुष्य की रचनात्मकता का भंडार रिक्त रहता है, तब वह आधुनिकता और परिवर्तन के संबंध में बौखलाता एवं डींग हाँकता है। उसमें प्राचीनता के चक्र में ताजी अमृतमयी मदिरा देने की क्षमता नहीं होती। वे तीखी ध्वनियों में चीखकर उधार ली हुई आधुनिकता में अपना विश्वास प्रभावित करने का यत्न करते हैं।” और पुनः “मैं उसे एक ऐसा नवयुवक कह सकता हूँ, जिसकी कल्पनाओं का क्षितिज शाश्वत एवं अनादि प्रत्यूषी रंगों से अनुरोजित है। ऐसा उपाःकाल, जिसके चरणों की लालिमा नए बाजार के कसाईखाने से खरीदे गए रक्त की किसी भी मात्र से संबंधित नहीं है।

इस प्रकार साठ वर्ष की अवधि में लगभग तीन सहस्र गीत रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा रचे गए थे।

भारतीय संगीत, जो कि शताब्दियों से दूषित एवं अपरिवर्तनशील हो चुका था, पुनः एक बार इत महात्मा निर्माता की रचनात्मक देनों से उत्पन्न होने वाली गत्यात्मक जीवनधारा से गतिशील हुआ। ठाकुर के द्वारा भारतीय संगीत जीवन के साथ पुनः परमावश्यक संबंध प्राप्त कर सका और उसने अपने-आप में रचनात्मक भविष्य के आश्वासन का अनुभव किया।

### संदर्भ सूची :

1. गर्ग लक्ष्मीनारायण, निबन्ध संगीत
2. दासगुप्ता डॉ. लिपिका, बंगाल के नव जागरण का संगीत

## रवीन्द्र संगीत में शास्त्रीय संगीत का स्थान

सारिका पाण्डेय

जो संगीत स्वर, ताल, राग, लय आदि नियमों से आवद्ध होकर वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत होता है उसे शास्त्रीय संगीत कहते हैं। शास्त्रीय संगीत राग प्रधान है। रागों के अपने-अपने स्वर हैं, नियम हैं। संगीत में गायन, वादन, तथा नृत्य का समावेश है। इन सभी का अपना वृहद क्षेत्र है परन्तु मूलभूत सिद्धांत एक ही है। रवीन्द्र संगीत का आधार शास्त्रीय संगीत है पर रवीन्द्रनाथ जी ने इसमें कुछ परिवर्तन कर “रवीन्द्र संगीत” को जन्म दिया।

रवीन्द्रनाथ की पारिवारिक परम्परा साहित्य एवं संगीत की विभिन्न विधाओं से प्रभावित हुई है। उनके परिवार में साहित्य, संगीत, चित्रकला इत्यादि की नियत चर्चा होती थी। बंगाल के ‘विष्णुपुर घराने’ के बड़े-बड़े ध्रुपद गायक ठाकुर परिवार में शिक्षा प्रदान करते थे। उनमें यदुभट्ट, गोपेश्वर बन्दोपाध्याय, रमेश चन्द्र बन्दोपाध्याय, श्रीकंठ सिंह इत्यादि प्रमुख थे। अतः स्वाभाविक रूप से रवीन्द्रनाथ के सांगीतिक व्यक्तित्व में शास्त्रीय संगीत का आधार बना हुआ था। उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है कि ‘शास्त्रीय संगीत से ही मैंने मूलतः संगीत की प्रेरणा प्राप्त की है। बाल्यकाल से ही मैं ध्रुपद गायन सुनने में अभ्यस्त रहा। वृहत् सीमा के अन्तर्गत मर्यादा की रक्षा करना ही ध्रुपद गायन का आभिजात्य है। इस गायन प्रणाली में एक ओर जैसे संगीत की व्यापकता एवं गहनता विद्यमान है, वहीं दूसरी ओर इसमें आत्मसंयम तथा सुसंगति को बनाये रखते हुए अपने वजन की रक्षा की गयी है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी गायन प्रणाली में ध्रुपद गायन की उक्त विशिष्टताओं को ग्रहण किया है। उनके गीत का काव्यांश स्थायी,

अन्तरा, संचारी, आभोग के नाम से चार भागों में विभाजित है। इन चार भागों की चार विशेषताएँ हैं तथा उनका क्रम विकास ध्रुपद शैली में समानता रखता है। गौड़ी, खण्डार, डागर तथा नौहर वाणी नामक ध्रुपद गायन की चार गायन शैलियों में गौड़ी वाणी, जो प्रसाद गुण सम्पन्न शान्त रस की प्रकाशक तथा धीर-मन्थर गति सम्पन्न है, रवीन्द्र संगीत से अधिक निकट है। डागर वाणी का भी प्रधान गुण सारल्य तथा लालित्य है। इसकी गति सरल तथा सहज है। इस शुद्ध वाणी का प्रभाव ही रवीन्द्र संगीत के ध्रुपदांग गायन में परिलक्षित होता है। शास्त्रीय ध्रुपद गायन शैली में लयकारी के जिन नियमों का परिपालन किया जाता है, रवीन्द्र संगीत में उन नियमों को बनाये रखना सम्भव नहीं है। जैसा कि पहले बताया गया है कि रवीन्द्र संगीत काव्य एवं सुर के समन्वय से अर्द्धनारीश्वर रूप में प्रकाशित होता है अर्थात् काव्य के भाव को उपयुक्त सुर-संयोजन के माध्यम से महिमामन्वित किया गया है। काव्य एवं सुर भावभिव्यक्ति के कार्य में एक दूसरे के परपूरक हैं। ध्रुपद गायन की लयकारी से काव्य के सर्वथा खण्डित होने की सम्भावना है, इसलिए रवीन्द्रनाथ ने लयकारी के बिना धीर गम्भीरपूर्ण सुर संयोजित करके अपने अधिकतर गीतों को ध्रुपद शैली की विशेषताओं से विभूषित किया। ऐसी ध्रुपद शैली के रवीन्द्र संगीत को ध्रुपदांग रवीन्द्र संगीत कहना उचित होगा। ध्रुपद धमार गायन में सामान्यतः चौताल, धमार, तीव्रा इत्यादि तालों के प्रयोग होते हैं। परन्तु रवीन्द्रनाथ ने अपने ध्रुपदांग शैली के गायनों में झपताल, आड़ा चौताल, सूलताल तथा

कई नवीन तालों के प्रयोग भी किये हैं। उनके ध्रुपदांग गीतों में अधिकतर गीत 'पूजा' पर्याय के अन्तर्गत हैं। विभिन्न तालों में ध्रुपदांग रवीन्द्र संगीत के कुछ उदाहरण ऐसे हैं-

1. जाने नाथ जोछोना राते  
-राग बिहाग, ताल धमार
2. शुभ्र आशोने बिराजा  
-राग भैरव, ताल आड़ा चीताल
3. चरनो ध्वनि सुनी तबो नाथ  
-राग सिन्धु, ताल झपताल
4. आजि ए आनंदो सन्ध्या  
-राग पूर्वी, ताल तीव्रा
5. एबार नीरब कारे दाओ हे  
-राग कनाड़ा, ताल विलम्बित त्रिताल
6. जनोनी तोमार कोरुणो चरोन खानी  
- राग मिश्रगुणकेली, नव पंचताल
7. निबिड़ घनो आंधारे  
-राग शाहना, ताल नवताल
8. दुआरे दाओ मोरे राखिया  
-राग सोरठ-मल्हार, ताल एकादशी

ध्रुपदांग रवीन्द्र संगीत की मुख्य विशेषता 'गाम्भीर्य पूर्ण सुसंगति की रक्षा' करनी है। ऐसे गीतों में पखावज संगत किया जाता है। ध्रुपद संगीत के लिए कण्ठ प्रस्तुति, स्वर प्रक्षेपण, अलंकरण एवं विशेष श्वास प्रक्रिया की आवश्यकता है। उसी प्रकार रवीन्द्र संगीत के लिए भी उक्त विषयों की तैयारी की आवश्यकता है, क्योंकि अधिकांश रवीन्द्र संगीत में ध्रुपद गायन शैली का कुछ न कुछ प्रभाव देखने को मिलता है। जो प्राचीन ध्रुपद शैली की 'शुद्ध' प्रणाली एवं मध्ययुगीन शुद्ध 'वाणी' का प्रभाव माना जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ने अन्यान्य शास्त्रीय संगीत की शैली तथा लोक संगीत की विशेषताओं को ग्रहण किया है, परन्तु यदि यह कहा जाय कि रवीन्द्र संगीत की गायकी मुख्यतः ध्रुपदांग है, तो गलत नहीं होगा।

ध्रुपद संगीत के बाद अमीर खुसरो द्वारा प्रवर्तित ख्याल शैली का विकास हुआ एवं उत्तर काल में इसका पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ। रवीन्द्रनाथ ने अपने कई गीतों में यद्यपि ख्याल की गीत-रीति को कुछ अंश में ग्रहण किया परन्तु ख्याल के अलंकरण तथा

तान इत्यादि के प्रयोग नहीं किये। ख्याल गायन के अनुसरण से उन्होंने जिन गीतों की रचना की उनके काव्यांश का विभाजन ध्रुपद की तरह स्थाई अन्तरा, संचारी एवं आभोग के रूप में न करके स्वाधी एवं अन्तरा के रूप में किया है, जो ख्याल शैली की विशेषता है। भैरव राग में एक प्रसिद्ध गीत 'जागो मोहन प्यारे' के अनुसरण से रवीन्द्रनाथ ने उसी राग एवं गीत के भाव की रक्षा करते हुए 'मनो जागो मंगल लोको' की रचना की।

1. एकी करुणा करुणामय
2. चिरो सखा छेड़ोना मोरे
3. निशि दिन मोर पराने
4. नयन भाशीलो जाले इत्यादि

गीतों की बंदिश, सुर संयोजन में छोटे तान एवं विभिन्न अलंकारों के प्रयोग किये गये हैं। ख्याल गायकी की छाया में जिन गीतों की रचना एवं सुर संयोजन किया गया है, वे गीत अधिकांश रागाश्रित तथा तीनताल, आड़ाठेका एकताल इत्यादि में रचे गये हैं।

1. आंखि जल मुछाईले जनोनी  
- रामकली, त्रिताल
2. तबो प्रेम सुधा रसे  
-परज, त्रिताल
3. बीमलो आनन्दे जागोरे  
-आसावरी, आड़ाठेका
4. मन्दिरे ममो के आशीले हे  
-आड़ाना, एकताल
5. हे सखा, ममो हृदये रहो  
-छायानट, एकताल

उपरोक्त गीतों के बंदिश स्पष्टतः ख्याल शैली में हैं।

रवीन्द्रनाथ ने अपनी संगीत रचना में विभिन्न प्रकार के टप्पा का प्रयोग किया है। टप्पा गायन शैली मुख्यतः पंजाब में परिवर्तित हुई है जो शोरी मियाँ कृत मानी जाती है। ध्रुपद एवं ख्याल की अपेक्षा टप्पा एक हल्की गायन शैली है। बंगाल में निधु बाबू (रामनिधि गुप्त) श्रीधर कथक इत्यादि ने बंगाल की गायन शैली के अनुकूल एक प्रकार के टप्पा का प्रचलन किया। रवीन्द्रनाथ ने अपने गीत में विभिन्न प्रकार से टप्पा का प्रयोग किया है। कभी

तो मीड़, तुर्की, कण इत्यादि अलंकारों के साथ संयुक्त रूप से आन्दोलन के रूप में एवं कभी धीमी लय में सघन टप्पा का प्रयोग किया गया है। श्रीधर कल्हक द्वारा रचित एक विशेष गाने का अनुसरण करते हुए अपने गीत 'के बोशीले आजी' गीत में सुर संयोजन किया। कई गीतों में पंजाबी टप्पा का प्रयोग करते हुए सुरारोपण किये गये हैं- जैसे-

1. ऐ परोवाशे रवे के
2. हृदय बाशोना पूर्ण होलो
3. बन्धु रहो रहो साथे

फिर कुछ-कुछ गानों में उन्होंने स्वतंत्र रूप से टप्पा का प्रयोग किया है, जैसे-

1. दूरे कोथाये दूरे
2. सार्थक जनम आमार
3. अमि रूपे तामाय भोलाबो ना

रवीन्द्रनाथ ने उच्च भावों के गीतों में अत्यन्त सादगी के साथ टप्पा का गाम्भीर्यपूर्ण प्रयोग किया है जिससे कहीं भी गीत की मर्यादा क्षीण नहीं हुई, बल्कि वृद्धि ही हुई है। ठुमरी गायन शैली की चपल भांगिमा रवीन्द्र संगीत के लिए अनुकूल नहीं है। फिर भी 'कि सुर बाजे आमार प्राणे' एवं 'खेलार साथी बिदाय द्वार खोलो' गीतों को ठुमरी अंगीभूत किया जा सकता है। परन्तु रवीन्द्रनाथ ने मध्य लय, विलम्बित लय में विभिन्न भावों के गानों में विभिन्न प्रकार से टप्पा का भरपूर प्रयोग किया है। रवीन्द्रनाथ ने संगीत रचना के प्रथम भाग में कई गीतों के सुरारोपण पाश्चात्य संगीत के अनुकरण से किया है, जैसे-

1. आहा, अजि ए बशन्ते  
-Go where glory waits thee
2. ओ देखवि रे भाई  
-The vicer of bray
3. ओहे दयामोयी  
-Go where glory, waits thee
4. कतोवार भेबेछिनु  
-Drink to me only
5. काली-काली बलो रे  
-Nancy Lee

गीतिनाट्य तथा नृत्य नाट्य का रवीन्द्रनाथ की संगीत रचना में महत्वपूर्ण स्थान है। 'बाल्मीकि प्रतिभा',

'मायार खेला' तथा 'काल मृगया', ये तीन गीतिनाट्य उनकी संगीत रचना के प्रथम काल की रचना हैं, जो तीन प्रकार की विशेषताओं से पूर्ण हैं। 'बाल्मीकि प्रतिभा' का आख्यान रामायण से लिया गया है। रत्नाकर दस्यु का ऋषि वाल्मीकि के रूप में परिवर्तित होने का प्रसंग ही वाल्मीकि प्रतिभा का कथानक है। 'काल मृगया' महाराज दशरथ की गलती से अन्धमुनि के पुत्र का वध करने का प्रसंग है। जो पुनः रामायण से लिया गया है। 'मायार खेला' मानविक प्रेम के विभिन्न अनुभवों को प्रकाशित करता है। इन गीति नाट्यों के बारे में रवीन्द्रनाथ ने स्वयं बताया है कि "बाल्मीकि प्रतिभा" तथा 'कालमृगया' में नाट्य की विषयवस्तु प्रधान है, गीत रूपी सूत्र से उसे मात्र गूँथा गया है, जबकि 'मायार खेला' में गीतों की भूमिका ही प्रधान है। गीतों के ग्रन्थन के लिए एक नाट्य विषय वस्तु का अवलम्बन किया गया है। इसीलिए 'बाल्मीकि प्रतिभा' तथा 'कालमृगया' के गाने स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत करने लायक नहीं हैं, परन्तु मायार खेला के बहुत गीत स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। रवीन्द्रनाथ स्वयं कहते हैं कि यूरोप में जिसे 'ओपेरा' कहा जाता है, बाल्मीकि प्रतिभा वैसा नहीं है। इसमें स्वर के माध्यम से एक नाट्य की विषयवस्तु को प्रस्तुत किया जाता है। इन गीति नाट्यों में यद्यपि भावावेग को प्रकाशित करने के लिए विभिन्न लयों की सहायता ली गयी है, तथापि इनमें ताल एवं छन्दों के प्रयोग कम है अर्थात् नाट्य की विषयवस्तु को प्रकाशित करने के लिए सुर एवं लय के अधिक संयोजन किये गये हैं, ताल एवं छन्द के कम। यही कारण है कि इन्हें गीति-नाट्य माना गया है।

'चण्डालिका', 'चित्रांगदा' एवं 'श्यामा' रवीन्द्रनाथ के तीन मुख्य नृत्य-नाट्य हैं। चण्डालिका एवं श्यामा सामाजिक प्रसंग के आधार पर लिखा गया है तथा 'चित्रांगदा' महाभारत का अर्जुन-चित्रांगदा प्रसंग है। नृत्य-नाट्य में नाटक की विषयवस्तु को सुर, ताल एवं छन्द में आबद्ध करके परिवेशित किया गया है।

नृत्य के संबंध में रवीन्द्रनाथ की व्यापक एवं उदार दृष्टि है। नाट्य की विषयवस्तु में अन्तर्भूत भावों को प्रकाशित करने के लिए जिस नृत्य शैली की आवश्यकता है, रवीन्द्रनाथ ने उदारता के साथ

उस नृत्य शैली का प्रयोग किया है। रवीन्द्रनाथ शास्त्रीय कथकली, जो अपनी नृत्य भांगिमा के माध्यम से विभिन्न पौराणिक कथानकों को प्रकाशित करता है, उससे बहुत प्रभावित थे। नृत्य-नाट्यों में रवीन्द्र संगीत के गाम्भीर्य एवं माधुर्यपूर्ण भावों को प्रकाशित करने के लिए मणिपुरी नृत्य शैली सबसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, परन्तु वीर और रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिए भरतनाट्यम तथा श्रीलंका की काण्डि नृत्य भांगिमाओं के प्रयोग हुए हैं। गीति-नाट्य एवं नृत्य-नाट्यों में मुख्य अन्तर नृत्य के ताल तथा छन्द के प्रयोग में है। गीति नाट्य में जिन भावों को सुर तथा लयों की भिन्नता के माध्यम से प्रकाशित किया गया है नृत्य नाट्य में नाट्य के विभिन्न भावों को सुर तथा छन्दबद्ध किया गया है। इसलिए नृत्य नाट्य में सुर, ताल, लय तथा छन्द सभी के आनन्द प्राप्त होते हैं। वास्तव में प्रत्येक नृत्य नाट्य ही विभिन्न नृत्य धारा के सूत्र रूप में परिकल्पित नृत्यमालायें हैं। हमारे देश के मुख्य चार शास्त्रीय नृत्य-मणिपुरी, कथक, कथकली तथा भरतनाट्यम के साथ कुछ प्रादेशिक लोक नृत्य का भी समन्वय किया गया है। नृत्य नाट्य संगीत की परिभाषा का, जो गायन, वादन तथा नृत्य के समन्वय को बताती है, सार्थक प्रकाशन है। रवीन्द्रनाथ के नृत्य नाटक के विभिन्न भागों को प्रकाशित करने के लिए काव्य, सुर तथा नृत्य भांगिमा का सार्थक समन्वय है। ये सभी अपनी-अपनी रीति से एक ही विषय को प्रकाशित करते हैं। इसलिए रवीन्द्रनाथ के नृत्यों को काव्य, संगीत तथा नृत्य का त्रिवेणी संगम कहा जाता है। इन गीति नाट्यों तथा नृत्य नाटकों के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ ने विभिन्न प्रकार के नाटकों की रचना की जिनमें गीतों के बहुत प्रयोग किये गये हैं। प्राकृतिक पृष्ठभूमि में उनके गीत बहुल नाटक में वसन्त एवं शारदोत्सव है। रूपक नाटक 'तासेर देश' को उन्होंने बड़े सुन्दर गीतों के द्वारा ग्रथित किया है। सभी नाटकों में गीतों के प्रयोग भावों के प्रकाशन तथा रस की सृष्टि के लिए अत्यन्त कुशलता से किये गये हैं।

रवीन्द्र संगीत में प्रयुक्त तालों के विवेचन के बिना उक्त प्रसंग पूरा नहीं हो सकता। रवीन्द्रनाथ ने प्रायः सभी शास्त्रीय तालों के प्रयोग किये हैं- चौताल,

धमार, तीनताल, एकताल, आड़ाघीताल, तीव्रा, झपताल, दादरा, कहरवा इत्यादि तालों के भरपूर प्रयोग के अतिरिक्त उन्होंने कई तालों की सृष्टि की है। झम्पक, शष्ठी, नवताल, रूपकड़ा, एकादशी तथा नवपंच ताल जो रवीन्द्र सृष्ट 'नूतन ताल' कहे जाते हैं। शास्त्रीय कई तालों में उनके कुछ प्रयोग हैं, जैसे- एक ताल की बारह मात्रा स्वीकार करते हुए उसमें तीन-तीन मात्रा का विभाजन करते हुए त्रैमात्रिक एकताल कहा गया है। शास्त्रीय मूल ताल का चार, दो, चार मात्रा का विभाजन करते हुए 'सुरफाक्ता' कहा गया है। प्रश्न पूछा जा सकता है कि शास्त्रीय इतने तालों के रहते हुए भी और तालों की क्या आवश्यकता थी। काव्य में जिस ढंग से सुर संयोजित किये गये हैं, उसके अनुकूल मात्रा विभाग की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही विभिन्न मात्रा तथा छन्द के, ताल की रचना की गयी है।

'नृत्येरो ताले ताले, ओई आशे ओई ओति भइरव हरपे, विश्व वीणा रवे इत्यादि गीतों में कई ताल एवं छन्दों के सुन्दर प्रयोग हुए हैं। रवीन्द्रनाथ ने प्रचलित सभी रागों के विभिन्न प्रकार के गीतों के सुरारोपण में प्रयोग किये हैं। यमन, कल्याण, विहाग, भैरवी इत्यादि रागों की मधुर वैचित्रपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। वास्तव में रवीन्द्र संगीत हमारे भारतीय संगीत जगत में एक अनुपम सृष्टि है जो लोक संगीत के समन्वय से शास्त्रीय संगीत के आधार पर प्रतिष्ठित है। इसमें अनेक तत्वों का समावेश हुआ तथा ये विभिन्न वैचित्र, सूक्ष्म एवं गहन माधुर्य से पूर्ण है। रवीन्द्रनाथ ने स्वयं बताया "काल के प्रवाह में एक समय मेरा साहित्य आच्छादित हो सकता है, परन्तु मेरा संगीत जीवित रहेगा।"

### संदर्भ सूची :

1. दासगुप्ता, डॉ. लिपिका - बंगाल के नवजागरण का संगीत, मनीप प्रकाशन, बी. एच. यू., वाराणसी, प्रथम संस्करण- 2006
2. दासगुप्ता डॉ. लिपिका- संगीतशास्त्र चिन्तन, कला प्रकाशन, न्यू साकेत कालोनी, बी. एच. यू., वाराणसी, प्रथम संस्करण-2009
3. कला वसुधा- प्रदर्शकारी कलाओं की त्रैमासिक पत्रिका, जनवरी-जून-2004
4. ललित चक्र, वाराणसी, अक्टूबर-2011

## रवीन्द्रनाथ ठाकुर : सांगीतिक कृतित्व

आनन्द कुमार विश्वकर्मा

भारत के राष्ट्रीय गीत 'जन-गन-मन' के रचयिता कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सांगीतिक सेवाएं इतनी व्यापक हैं कि उनका जितना भी विवरण यहाँ हम प्रस्तुत करें कम ही है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगाल के प्रसिद्ध विभूति थे उन्होंने अपनी विद्वता तथा बहुमुखी प्रतिभा का अनेक प्रकार से परिचय दिया है। वह केवल एक कवि ही नहीं, बल्कि एक गीतकार, संगीतकार, गायक आदि भी थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर संगीत की एक नई विधा की सृष्टि की जिसे 'रवीन्द्र संगीत' के नाम से जाना जाता है। यहाँ प्रमुखतया उनकी सांगीतिक कृतियों का ही उल्लेख प्रस्तुत किया जा रहा है।

रवीन्द्र संगीत के संगीत पक्ष को प्रमुखतया तीन भागों में विभाजित कर देखा जा सकता है-

1) जीवन का प्रारम्भिक समय (1880ई.-1900ई.)- इस काल में रवीन्द्रनाथ जी ने भारतीय शास्त्रीय संगीत के ध्रुपद पक्ष को प्रधानता देते हुए गीतों की रचना की थीं, क्योंकि वे विष्णुपुर घराने के सुप्रसिद्ध ध्रुपदिया यदुभट्ट, राधिका प्रसाद गोस्वामी तथा गोपेश्वर बन्धोपाध्याय से ध्रुपद सीखते थे। उक्त संगीतज्ञों की प्रेरणा से इन्होंने कई ध्रुपदांग के ब्रह्म संगीत की रचना की थी। जैसे- गीत के बोल

राग	ताल
तोमारी रागिनी जीवन कुन्जी इमनकल्याण	तेवरा
आजि प्रणमि तोमारे विभास	एकताल
आनन्द ध्वनि उठिछे गगने मिश्र हमीर	फेरता

गीत का भावार्थ समझने के लिए गीतों में प्रयुक्त स्वरावलियाँ अपना निजी वैशिष्ट्य रखती हैं।

शोध छात्र (म्यूजिकोलॉजी), संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

यहाँ कारण है कि रवीन्द्र संगीत में गायक अपने से तान आलाप इत्यादि नहीं जोड़ पाते।

2) रवीन्द्र संगीत रचना का द्वितीय काल (1901ई.-1920ई. तक)- इस काल के रचित गीतों में बंगाल के लोक धुनों का बहुतायत प्रयोग किया गया है। उनके गीतों में बाजल, भटियाली लोकधुनों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। बंगाल आन्दोलन के पहले तथा बाद में रचित गीतों में बाजल धुनों का स्पष्ट प्रभाव दिखता है यथा-

क) यदि तोर डाक सुने  
ख) ओदेर बाधन जतइ शक्त हवे  
ग) ओ आमार देशेर माटी  
भटियाली धुनों के आधार पर प्राप्त स्वदेशी गीत भी हैं यथा-

क) आमार सोनार बांगला  
ख) ग्राम छाड़ा ओइ रांगा माटीर पय  
ग) बसन्ते की शुधु

3) रवीन्द्र संगीत की रचना का तृतीय काल (1910ई.-1941ई.)- इस काल की रचनाओं में सार्वभौमिकता दिखाई पड़ती है। विशेष प्रकार अनुष्ठानिक गीत प्रमुख रचनाएं हैं। इसके अतिरिक्त रवीन्द्र संगीत में विदेशी धुनों का प्रयोग, दक्षिण भारतीय राग तथा गीत विधाओं का प्रयोग का रचना की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है यथा-

अनुष्ठानिक गीत  
उत्सव  
क) नमो यन्त्र नमो यन्त्र

विश्वकर्मा पूजा

ख) एशो एशो हे तृष्णार जल  
नलकूप खनन

ग) दुजने जेधाए मिलेछे सेधाय  
विवाहोत्सव

विदेशी धुनों पर आधारित गीत-  
गीत का पद

मूल अंग्रेजी गीत की प्रथम पंक्ति  
क) ओहे दयामोयि

Go where glory waits three

ख) फूले फूले ढले ढले

Ye banks and traces

ग) पुरानों सेइ दिनेर कथा

Auld lang syne

घ) कतवार भेबेछिनु

Drink to me only

रवीन्द्र संगीत में पद, छन्द, लय, ताल, राग, भाव, काव्य आदि का सुन्दर रूप से प्रयोग किया गया है। रवीन्द्र संगीत में शब्द और स्वर का ऐसा अनोखा मेल हुआ है कि इस संगीत को अर्द्धनारीश्वर के रूप में देखा गया है।

रवीन्द्र संगीत का आधार उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत रहा है। शास्त्रीय संगीत में ही परिवर्तन कर इस संगीत का जन्म हुआ। परन्तु शास्त्रीय संगीत पर आधारित होते हुए भी इसका अपना अलग प्रभाव एवं अस्तित्व है। रवीन्द्रनाथ जी ने अपने संगीत में अनेक रागों का प्रयोग किया है। इन्हें राग-रागिनी कहा है। राग-रागिनी तथा भाव के संबंध में रवीन्द्रनाथ ने काफी कार्य किया है। रवीन्द्र गीतों में गीत योजना (स्वर लगाना) राग-रागिनी के भाव को सामने रख कर की गई है। इसके अलावा रवीन्द्र संगीत में बंगाल के लोक संगीत की छाया आती है। रवीन्द्रनाथ ने ध्रुपद, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, बाउल, भटियाली, कीर्तन आदि को मिलाकर संगीत बनाया। इसी आधार पर ध्रुपदांग, टप्पांग, ख्यालांग, कीर्तनांग आदि का वर्णन किया। रवीन्द्रनाथ शास्त्रीय संगीत के कठोर नियमों के विरोधी थे। उनके अनुसार नियम होने चाहिए परन्तु उनका इतनी कठोरता से लागू करना ठीक नहीं है। इससे नई सृष्टि नहीं हो सकती। रवीन्द्र संगीत न तो पूर्ण शास्त्रीय है और न ही लोक संगीत यह इन दोनों का मिश्रण है।

रवीन्द्र संगीत में काव्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है। गीत रचना में छन्द पर विशेष ध्यान दिया जाता है। रागों के प्रयोग तथा राग मिश्रण का सुन्दर कार्य रवीन्द्र संगीत में दिखाई पड़ता है। रागों में, जैसे विहाग, भैरवी, पूर्वी, बसंत, बहार आदि रागों का प्रयोग अधिक हुआ है। रवीन्द्र नाथ ने इन शास्त्रीय रागों को एक नये रूप से प्रस्तुत किया है। जैसे विहाग राग में वे कोमल निषाद का प्रयोग करते थे। इस प्रकार अन्य कई रागों के स्वर परिवर्तन किये गये हैं।

रवीन्द्र संगीत में भाव का स्थान प्रमुख है। इसलिए रवीन्द्र संगीत में शब्दों की प्रकृति के अनुसार धुन बनाई जाती है। जैसे प्रभात का समय दर्शाने वाले गीतों, शब्दों को भैरव, भैरवी, रामकली आदि रागों में बांधा गया। रात्रि कालीन वर्णन के लिए कान्हणा, आदि राग लिए गये। बसंत, वर्षा ऋतु आदि के गीतों के लिए बहार, बसंत, आदि का सहारा लिया गया। इस प्रकार ऋतुओं आदि के लिए राग विशेष प्रयुक्त किये गये।

ताल के क्षेत्र में रवीन्द्र संगीत का अपना ही एक स्थान है। शास्त्रीय संगीत की तालों में कुछ परिवर्तन कर नये नाम से प्रयोग किया गया। जैसे- शास्त्रीय संगीत की झपताल। यह 10 मात्रे की ताल है जिसके 12/123/12/123 ये 4 विभाग हैं। यहीं ताल रवीन्द्र संगीत में झम्पक के नाम से जानी जाती है पर यहाँ इसके विभागों में मात्राएं 123/12/123/12 है। इसी प्रकार अन्य कई ताले हैं। इन तालों के अतिरिक्त रवीन्द्र संगीत की कुछ तालें रवीन्द्रनाथ जी ने स्वयं बनाई हैं। इनकी आवश्यकता इसलिए महसूस हुई क्योंकि कविता में कई छन्द ऐसे पाए जाते हैं जिनके समान की छन्द की तालें शास्त्रीय संगीत में नहीं हैं। रवीन्द्र संगीत में 4 से लेकर 32 मात्रा तक की तालों का उपयोग होता है, जैसे- यत्, तेवरा, कहारवा, एकादशी, नवपंच, दादरा, षष्ठी इत्यादि।

रवीन्द्रनाथ जी ने जीवन के हर एक पहलू पर कविताएं लिखी हैं। ऐसा शायद ही कोई भाव रह गया होगा जिसपर रवीन्द्रनाथ जी ने नहीं लिखा। मुख्य रूप से रवीन्द्रगीतों को उनके विषय के अनुसार 6 भागों में बाँटा जा सकता है-

- |               |            |
|---------------|------------|
| 1) पूजा       | 2) प्रेम   |
| 3) प्रकृति    | 4) स्वदेश  |
| 5) आनुष्ठानिक | 6) विचित्र |

1) पूजा- पूजा के गीतों में आध्यात्मिकता का वातावरण मिलता है। इसमें ईश्वर से संबंधित अनुभूतियों को कवि ने आनंद, विस्मय, करुणा के द्वारा व्यक्त किया है। भाव की दृष्टि से पूजा गीतों के भी कई उपभाग हैं यथा- प्रार्थना, बंधु, आनंद, साधना, आत्मबोध, सुन्दर, गान, विरह।

- क) आमार प्राणेर मानुष आछे प्राणे  
ख) आमि मारेर सागोर पाड़ी देबो

2) प्रेम- प्रेम के हर स्तर का वर्णन कवि ने किया है। प्रेम का अर्थ यहाँ मानवीय प्रेम से लिया गया है। प्रेम के सभी भावों को गीतों में ढाला गया है। जैसे कि- विरह, मिलन, निवेदन आदि के स्तर।

- क) जा छिलो कालो-धलो

3) प्रकृति- प्रकृति संबंधी गीतों में प्रकृति का वर्णन सुन्दरतम ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इन गीतों में छः प्रकार ऋतुओं का वर्णन हुआ है, यथा-

- क) फागुन हवाए-हवाए करेछी जे दान  
ख) झर-झर बरिषे वारि धारा  
ग) हाय हेमंत लक्ष्मी

4) स्वदेश- रवीन्द्रनाथ ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। देश को सामने रखकर उन्होंने अनेक गीतों की रचना की। ये गीत देश भक्ति की भावना से ओत-प्रोत हैं, यथा-

- क) जे तोमारे छाड़े-छारूक  
ख) सार्थक जनम आमार जन्मेछि एइ देशे

5) आनुष्ठानिक- आनुष्ठानिक गीतों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के संस्कारों के गीत आते हैं। जैसे-जन्म मृत्यु, विवाह, गृह प्रवेश, मुंडन, यज्ञोपवीत आदि के समय के गीत-

- क) ओहे नवीन अतिथि  
ख) एसो हे गृह देवता

6) विचित्र- विचित्र गीतों के अन्तर्गत मानव जीवन की कई अनोखी घटनाओं का चित्रण मिलता है। कई अनुभूतियाँ जैसे हंसना, रोना, चलना, खुशी आदि को दर्शाने के लिए कवि ने कई गीतों को रचा है ये गीत विचित्र श्रेणी में आते हैं, यथा-

- क) आमार नाइबा होलो पारे जावआ  
ख) स्वपोन पारेर डाक शुनेछी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सांगीतिक कृतित्व एवं सेवाएँ इतनी हैं कि उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन करना बड़ा ही कठिन है। वस्तुतः वह सर्वतोमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। अतः यह कह सकते हैं कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक कलाकार, संगीतकार, गीतकार, कवि, गायक, नर्तक, चित्रकार, एवं नाटककार आदि बहुत कुछ थे, परन्तु सबसे पहले वे संत और गुरुदेव थे।

### संदर्भ सूची :

1. दासगुप्ता डॉ. लिपिका, बंगाल के नवजागरण का संगीत, मनीष प्रकाशन बी. एच. यू. वाराणसी, 2006।
2. शर्मा डॉ. मृत्युंजय, संगीत मैनुअल, एच. जी. पब्लिकेशन्स (इण्डिया) नई दिल्ली, 2002।
4. पत्रिका : कला वसुधा संयुक्तांक:(10-11) 2004, सम्पादक व उपसम्पादक- शाखा बंद्योपाध्याय व डॉ. उषा बनर्जी, लखनऊ, जनवरी-जून, 2004।

# ध्रुपद

अंकिता गोस्वामी

ध्रुपद भारत की प्राचीन गायन शैली है। भारत में इसका अंग का आरम्भ और विकास होने से पूर्व ध्रुपद अंग का बाहुल्य से प्रचार था। ध्रुपद शब्द दो शब्दों के योग से बना है : 'ध्रुव' और 'पद'।

नाट्यशास्त्र में निरूपित 'गान्धर्व' और 'गान' अर्थात् 'गायक' और 'ध्रुवा' के तत्वों को लेकर प्राचीन शास्त्रीय 'प्रबन्ध' का विकास हुआ। गान्धर्व से स्वर, ताल और पद- ये तीन तत्व और गान से रस, भाव, प्रकृति इत्यादि को नियत छन्दों में पदयोजना करके उन्हें गेय रूप प्रदान करना, इन्हीं विशेषताओं को लेकर प्रबन्ध का स्वरूप बना।

कहा जाता है कि ध्रुपद-गायन शैली का आविष्कार सबसे पहले पन्द्रहवीं (15वीं) शताब्दी में खालिजर के राजा 'मानसिंह तोमर' द्वारा हुआ था। हमारे यहाँ की अति प्राचीन गायन शैली साम संगीत में निबद्ध है। सामवेद की सहस्र शाखाएँ थी। यह कथन प्रसिद्ध है- 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः।' सामवेद के प्रशस्त समाज में छन्दोगान का प्रसार हुआ। उसी छन्दोगान की विविधता मतंग, शारंगदेव के काल तक जिस रूप में प्रचार में रही होगी, उसे देखकर उन्होंने प्रबन्ध गान के अनेकों भेद-प्रभेद नियमबद्ध किये होंगे, ऐसा अनुमान होता है। ध्रुपद गान पर उसी प्रबन्ध गान का प्रभाव पड़ा होगा। संस्कृत भाषा का प्रचार हट जाने से देशी भाषाओं में प्रबन्ध गान का जो रूपान्तर हुआ होगा, वही 'ध्रुपद' नाम से प्रचार पाया होगा। 'ध्रुपद' प्रबन्ध गान का ही एक विशिष्ट प्रकार है। प्रबन्ध की चार धातुएँ कही गयी हैं- उद्गाह, मेलापक, ध्रुव और आभोग।

इसका सबसे पहले उल्लेख सोमेश्वर कृत 'मानसोल्लास' में इस प्रकार मिलता है-

“गीतमुद्गाह्यते तेन समुद्गाहः प्रकीर्तितः उद्गाहध्रुवयोः संधीः लेपोन्मेलापको भवेत्। पौनः पुन्याद् ध्रुवत्वाच्च ध्रुवकः परिकीर्तितः ध्रुवस्याभोगकरणादाभोग इति संज्ञितः।।”

अर्थात् गीत का ग्रहण करने के कारण 'उद्गाह', ध्रुव के साथ उद्गाह को जोड़ने वाला 'मेलापक' बार-बार प्रयुक्त होने और ध्रुव (अर्थात् स्थाई) होने के कारण 'ध्रुव' तथा ध्रुव का भोग कराने से 'आभोग' संज्ञाएँ हैं।

अतः 'ध्रुपद' यानी अचल पद। जो पद ध्रुव, स्थिर, अचल, अपरिवर्तनशील हो वही 'ध्रुव पद' है। यदि हम किसी से पूछे की ध्रुपद से पहले क्या गाया जाता था, तो हमें तत्काल जवाब मिलता है, 'प्रबन्ध' गाये जाते थे, परन्तु वह यह नहीं जानते कि संगीत जगत में जो बहुप्रचलित 'बन्दिश' शब्द 'प्रबन्ध' का ही फारसी अनुवाद है और ध्रुपद भी प्रबन्ध का एक प्रकार है। अतः हम कह सकते हैं- “वह पद जो ध्रुव नामक गेय प्रबन्धों में प्रयुक्त हो ध्रुपद है।”

ध्रुपद का मूल उत्स ध्रुवा गान में निहित है। विकास की दृष्टि से इसका सम्बन्ध सालग सूड़ से जुड़ता है। दूसरी ओर विश्लेषण के आधार पर गान्धर्व गान परम्परा के अन्तर्गत ध्रुपद गान आता है। स्वर, ताल एवं पद का जितना उन्मुक्त एवं समन्वय ध्रुपद में दिखाई देता है उतना सम्भवतः दूसरी विधा में नहीं। ध्रुपद का लक्षण सबसे पहल

मध्ययुगीन ग्रंथ 'अनूप-संगीत-रत्नाकर' में मिलता है।

ध्रुवपद के आविष्कार की चर्चा करते समय हम हवेली संगीत को अनदेखा नहीं कर सकते। ये ध्रुवपद की अत्यन्त निकटवर्ती गान विद्या है। संगीतज्ञों का यह भी मानना है कि ध्रुवपद गायन शैली हवेली संगीत की ही देन है। वैसे दोनों गायन शैलियों में पर्याप्त भिन्नता है। हवेली संगीत में गाये जाने वाले गीत भक्तिपरक होते हैं। स्वर-ताल से युक्त होने के बावजूद उनमें शास्त्रीयता का कठोर बंधन और व्याकरण नहीं होता।

जिस प्रकार बड़े छन्दों में चार चरण या पाद होते हैं, उसी प्रकार ध्रुवपद के गीतों में भी चार विभाग होते हैं- स्थायी, अन्तरा, संचारी, आभोग। पूर्ण ध्रुवपद इन चार अंगों में ही निबद्ध होते हैं। यद्यपि आजकल केवल स्थायी और अन्तरा इन दो अंगों में निबद्ध ध्रुवपद ही प्रचार में है।

ध्रुवपद गायन में सामान्यतः संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग होता है। अधिकांश ध्रुवपद ब्रजभाषा में रचित होता है। लेकिन, ध्रुवपदों की रचना उर्दू, अरबी और फारसी जैसी भाषाओं में भी हुई है। शाहजहां ने नायक बख्शू के एक हजार ध्रुवपदों का संग्रह, 'सहसरस' नाम से प्रकाशित कराया था।

गायन शैलियों के आधार पर ध्रुवपद अंग की गायकी की चार वाणियां मानी गई हैं- गोबरहार, खण्डहार, नौहार और डागुर। परन्तु उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागुर ने कहा था- ध्रुवपद की चार नहीं पांच वाणियां हैं। शारंगदेव ने भी संगीत-रत्नाकर में ध्रुवपद की पांच प्रकार की शैली बताए हैं। प्राचीन काल में जिन्हें हम गीति कहते थे, वे पांच गीति-शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, बेसरा और साधारणी ही ध्रुवपद की

पांच वाणियां हैं। आज जिसे डागुर वाणी कहा जाता है, वह वस्तुतः प्राचीनकालीन साधारणी गीति ही है।

ध्रुवपद के इन वाणियों के अतिरिक्त ध्रुवपद के पांच घराने माने जाते हैं- (1) डागर, (2) दरभंगा, (3) तलवन्डी, (4) बेतिया, (5) विष्णुपुरा। इन सभी घरानों की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं।

डागर घराने की विशेषता आलाप में ही निहित है। इस परम्परा में स्वर प्रयोग के 10 विशिष्ट लक्षण प्रयुक्त होते हैं। यथा- आकार, डगर, घुरन, मुरन, कम्पित, आन्दोलित लहक, गमक, हुदक। इस परम्परा में गायन के अतिरिक्त तन्त्री वादन के आलापचारी के प्रस्तुतीकरण के भी 10 लक्षण बताए गये हैं- साज, सहज, गहन, झुरत, पुरत, तीख, चोख, लाग, डाट, स्वर संगत।

इस प्रकार दरभंगा घराने के ध्रुवपद परम्परा में पद का विशिष्ट महत्व होता है क्योंकि पद प्रायः स्तुतिपरक होता है। इस परम्परा में बन्दिश के स्वरूप में लयकारी कम की जाती है।

तलवन्डी घराने के विशिष्ट विचारधारा को पूरे हिन्दू ढाँचे के स्थान पे इस्लाम ने ले लिया था। भारतीय ध्रुवपद गायकों द्वारा प्रयुक्त "ऊँ", इस मंत्र के स्थान पे 'हाफिस खाँ नित तरन तारन अल्लाह तेरो नाम' गाते हैं। आलाप शब्द की उत्पत्ति को वे 'अल्लाह आप' के रूप में देखते हैं। इस प्रकार सभी घरानों की अपनी-अपनी विशिष्ट विशेषताएं हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह कहा जा सकता है कि भारतीय संगीत पूर्णतया आध्यात्मिक संगीत है, तथा ध्रुवपद इसी सांस्कृतिक स्रोत से निकला हुआ वह प्रचण्ड आवेशपूर्ण आध्यात्मिक वेग है जो पूर्णत्व की परिपूर्णता से अभिभूत होकर ब्रह्ममाण्डीय तत्त्वों के सुखद रस की रसानुभूति से ओत-प्रोत है।

# रवीन्द्रनाथ की संगीत जगत को देन

आरती वाही

ठकुर परिवार की पाथुरिया घाटा तथा जोड़ासांको की शाखा थी। जोड़ासांको परिवार में महर्षि द्वारिकानाथ ठकुर के पुत्र श्री देवेन्द्रनाथ थे। देवेन्द्रनाथ ठकुर संगीत कला के बड़े संरक्षक थे। भारत के बड़े-बड़े संगीतकार उनके घर में आकर ठहरते और कला प्रदर्शन करते थे तथा परिवार को संगीत विद्या सिखाते थे। उनमें विष्णु चक्रवर्ती (ध्रुपद गायक) जदुभट्ट, श्याम सुन्दर मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्री देवेन्द्रनाथ ठकुर के पुत्रों में कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठकुर का नाम सम्पूर्ण विश्व प्रसिद्ध है। रवीन्द्रनाथ ने जिस घर में जन्म लिया, वहाँ इसाई धर्म से सम्बन्धित वातावरण अधिक था। अपने धर्म का मर्म समझा और प्रकृति से उन गहराइयों को जाना जो संगीत, काव्य, शिल्प और नृत्य आदि कलाओं को जन्म देते हैं। उनकी वाणी से जो भी शब्द निकलते हैं वे संगीत की लय बन जाते और रवीन्द्रनाथ जी अवगाहन करते हुये संसार को सुख, शान्ति और करुणा का संदेश देते।

रवीन्द्रनाथ जी बंगाल के ख्याति प्राप्त विष्णुपुर घराने से अत्यधिक प्रभावित हुये। ख्याल गायन की अपेक्षा ध्रुपद गायन से अधिक प्रभावित थे।

रवीन्द्रनाथ जी के परिवार में कई कलाकार हुये जैसे कि रवीन्द्रनाथ के भाई द्विजेन्द्रनाथ जो कि एक बाँसुरी वादक थे। इन्दिरा देवी शास्त्रीय कंठ तथा वाद्य संगीत में निपुण थी। इसके अतिरिक्त सरला देवी, अवनीन्द्र नाथ, डॉ. वाणी चटर्जी आदि कई कलाकार रवीन्द्रनाथ के वंश में हुये हैं। टैगोर घराने के प्रमुख कलाकारों में अनंतलाल बंदोपाध्याय, क्षेत्रमोहन गोस्वामी, राधिका प्रसाद गोस्वामी, काशी

प्रसन्न बंदोपाध्याय, जदुभट्ट, गिरिजा शंकर चक्रवर्ती, महेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, गदाधर चक्रवर्ती आदि हैं। रवीन्द्रनाथ ठकुर ने अपनी विद्वता तथा प्रतिभा का अनेक बहुमुखी प्रकार से परिचय दिया है। वे केवल कवि ही नहीं परन्तु एक नाट्यकार, उपन्यासकार, संगीतकार, गायक, चित्रकार आदि थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर संगीत की एक नई विद्या की सृष्टि की, जिसे "रवीन्द्र संगीत" के नाम से जाना जाता है। रवीन्द्र संगीत में पद, छन्द, लय, ताल, राग, भाव, कल्प आदि का सुन्दर रूप से प्रयोग किया गया है। रवीन्द्र संगीत में शब्द तथा स्वर का ऐसा अनोखा मेल हुआ है कि इस संगीत को अर्द्धनारीश्वर रूप में देखा गया है।

रवीन्द्र संगीत का उद्भव बंगाल में हुआ। यह संगीत इतना लोकप्रिय हो गया कि इसका प्रसार पूरे देश तथा विदेशों में भी हुआ। रवीन्द्र संगीत का आधार उत्तरी शास्त्रीय संगीत है। शास्त्रीय संगीत में ही परिवर्तन कर इस संगीत का जन्म हुआ। परन्तु शास्त्रीय संगीत पर आधारित होने के बावजूद इसका अपना ही एक अलग अस्तित्व है। रवीन्द्रनाथ जी ने अनेक गीतों की रचना की है। इन सभी गीतों को स्वरों में बाँधा है।

रवीन्द्र संगीत पर शास्त्रीय तथा बंगाल के लोक संगीत की छाया आती है। रवीन्द्र नाथ ने ध्रुपद, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, भटियाली, वाउल, कीर्तन आदि को मिलाकर संगीत बनाया। इसी आधार पर ध्रुपदांग, टप्पांग, ख्यालांग, कीर्तनांग आदि का वर्णन किया। रवीन्द्रनाथ जी शास्त्रीय संगीत के कठोर नियमों के विरोधी थे। उनके अनुसार नियम होने

चाहिये परन्तु उनका इतनी कठोरता से लागू करना ठीक नहीं है। इससे सृष्टि नहीं हो सकती। रागों का प्रयोग तथा राग मिश्रण का सुन्दर कार्य रवीन्द्र संगीत में दिखाई देता है। रागों में जैसे बिहाग, भैरवी, पूर्वी, बसंत, बहार आदि रागों का प्रयोग अधिक हुआ है।

**रवीन्द्र संगीत में ताल :-** रवीन्द्र संगीत में लय-ताल तथा छन्द पर विशेष ध्यान दिया गया है। रवीन्द्रनाथ जी ने कई उत्तर तथा दक्षिण भारतीय तालों में परिवर्तन किया तथा नई तालें बनाई। कुछ तालें रवीन्द्रनाथ जी ने स्वयं बनाई। रवीन्द्र संगीत में 4 से लेकर 32 मात्रा तक की तालों का उपयोग किया जाता है। रवीन्द्र संगीत में तीन मात्रा में चलन चंचल होगा, आठ मात्रा का चलन गंभीर प्रकृति का होता है। रवीन्द्र संगीत में ताल को एक समान रखना जरूरी नहीं होता। भाव पक्ष के आगे ताल तथा स्वर गौण है। रवीन्द्र संगीत में सम का बंधन नहीं माना जाता। रवीन्द्र तालों की विशेषता यह है कि तालें बाद में रची गईं। पहले गीत रचना हुई है। गीत छन्दों के आधार पर ही तालें बनी हैं। रवीन्द्र ताल पद्धति में "सम" दर्शाने के लिये अंकों के ऊपर रेखा लगाई जाती है। जैसे- 2 आदि। खाली के लिये 0 चिन्ह है। जिन तालों में 3 ताली तथा 1 खाली होता है। वहां चिन्ह 2, 3, 0, 1, लगते हैं।

### रवीन्द्र गीतों का विषय :-

रवीन्द्रनाथ ने लगभग 3500 गीतों की रचना की तथा संगीतबद्ध भी किया है। उनके गीतों का संग्रह गीत वितान ग्रन्थ में है। इस ग्रन्थ में पूजा, प्रेम, प्रकृति, स्वदेश, आनुष्ठानिक, विचित्र शीर्षकों के अन्तर्गत लगभग 3000 गीत संकलित हैं।

**(1) पूजा के गीत :-** पूजा के गीतों में अध्यात्मिक वातावरण मिलता है। इसके अन्तर्गत रवीन्द्रनाथ के "नैवेद्य", "रवैया" और "गीतांजलि" के गीत आते हैं। जिनमें ध्वनिमय व्यंजना और भागवत व्याकुलता के स्पष्ट दर्शन होते हैं। ईश्वर से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों को कवि ने आनन्द, विस्मय, करुणा आदि के द्वारा व्यक्त किया है। पूजा गीतों में वैष्णवीय ईश्वर सिद्धान्त का रूप भी दिखाई देता है। ईश्वर को कहीं साकार तो कहीं निराकार रूप में माना गया है। पूजा गीतों में

भक्त और भगवान के आपसी सम्बन्धों का वर्णन रहता है। मानव भगवान की प्राप्ति के लिये जन्म-मरण के चक्कर में दौड़ता है। भाव की दृष्टि से पूजा गीतों को कई उपभागों में बांटा जा सकता है।

### पूजा गीत के उपभाग गीत की पहली पंक्ति

1. प्रार्थना  
अंतर मम विकसित करो
2. बंधु  
शुधु तोमार वाणी नय गो हे
3. आनंद  
आनंद गान उठुक तवे वाजि
4. साधना  
प्रतिदिन आमि ये जीवन स्वामी

### (2) प्रेम :-

प्रेम के प्रत्येक स्तर का वर्णन रवीन्द्रनाथ जी ने किया है। प्रेम का यहां अर्थ मानवीय प्रेम से है। स्त्री-पुरुष के आपसी प्रेम का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है। प्रेम के सभी भागों को गीतों में ढाला गया है। जैसे कि विरह, निवेदन, मिलन आदि। बंगाल में प्रेम काव्य के महान् रचनाकार निधिबाबू पर रवीन्द्र संगीत का गहरा प्रभाव था।

भौतिक प्रेम प्रसंगों को रवीन्द्रनाथ जी ने आध्यात्मिक चेतना की ओर मोड़कर छायावाद और रहस्यवाद की प्रेरणा से ओत-प्रोत कर दिया था।

### (3) प्रकृति :-

रवीन्द्रनाथ जी के प्रकृति सम्बन्धी गीतों में दृश्य और अदृश्य दोनों के रूप-सौन्दर्य का वर्णन मिलता है। जब वट वृक्ष की डालियाँ तूफान के झोंके से कांप रही हैं तो रवीन्द्रनाथ जी के प्रकृति गीत मुखर हो उठते हैं। इन गीतों में 6 ऋतुओं का वर्णन हुआ है। प्रकृति गीतों को कई उपभाग में बांटा जा सकता है।

### उपभाग गीत की पहली पंक्ति

1. ग्रीष्म  
नाइ रस नाइ, दारुण दाहन बेला
2. शरत  
शरत आलोक कमल बने
3. बसंत  
दखिन हाओया जागो
4. शीत  
शीतेर हाओयाय लागत नाचन

5. हेमंत  
हाय हेमंत लक्ष्मी

6. वर्षा  
झर झर बरिषे वारिधारा

(4) आनुष्ठानिक :- आनुष्ठानिक गीतों के जननागत विभिन्न प्रकार के संस्कारों के गीत आते हैं। जैसे- जन्म, मृत्यु, विवाह, गृह प्रवेश, वृक्ष लगाना, नुडन, यज्ञोपवीत इत्यादि समय के गीत। उदाहरण के लिए-

विवाह:- दुइटि हृदये एकटि आसन  
ओहे नवीन अतिथि

गृह प्रवेश:- ऐसो हे गृह देवता

जन्म :- शुभ्र, नव शंख तव नव आनंदे

जागो आजि जगते आनंद यज्ञो आभार निमंत्रण।

(4) स्वदेश :- 19वीं शताब्दी के मध्य से भारतीय बुद्धिजीवियों में मातृभूमि और मातृभाषा के प्रति ममत्व और सजातीयता की सचेतन बोध ही स्वदेशी संगीत के जन्म का कारण है।

रवीन्द्रनाथ (1861-1941) द्वारा बंग-भंग आन्दोलन के समय अत्यन्त मर्मस्पर्शी स्वदेशी गीतों की रचना की। प्रमुख रूप से बंगाल के बाउल लोकसंगीत के स्वर सन्निवेश में अनेक रचनाये मिलती है। रवीन्द्रनाथ ने लगभग 64 स्वदेशी गीतों की रचना की। ये गीत देश भक्ति की भावना से ओत-प्रोत है।

इन गीतों में मातृ वंदना, देश की सुन्दरता उसकी रक्षा आदि का वर्णन मिलता है। कुछ गीतों की पंक्तियाँ इस प्रकार है।

1. अथि भुवन मन मोहिनी माँ।
2. सार्थक जनम आभार जन्मेछि एइ देशे।
3. ओ आमार देशे माटि।

विचित्र :- मानव जीवन में कई अनोखी घटनायें होती है। कई अनुभूतियाँ जैसे हंसना, रोना, चलना, खुशी आदि को दर्शाने के लिये कवि ने कई गीतों की रचना की है। ये गीत विचित्र श्रेणी में आते हैं।

सुधा जावा आशा, सुधु स्रोते भाषा,  
सुधु आलो आधारे कांदा हासा।

रवीन्द्र संगीत में लोक धुनों का प्रयोग :-

रवीन्द्र संगीत की रचना द्वितीय काल (1909 से 1920 तक) इस काल में रचित गीतों में बंगाल के

लोक धुनों का प्रयोग बहुतायत से किया गया है। उनके गीतों में बाऊल, भटियाली, लोकधुनों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। लगभग 1905 में बंग भंग आन्दोलन के पहले तथा बाद में रचित असंख्य स्वदेशी गानों में भी बाऊल धुनों का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। उदाहरणार्थ-

(अ) विधिर वाधन काटवें तुमि।

(आ) ओदेर वाधन जतइ शक्त हवे।

रवीन्द्रनाथ जी रचित भटियाली धुनों के आधार पर स्वदेशी गीतों का उदाहरण कुछ इस प्रकार है।

(अ) आमार सोनार बांगला।

(ब) ग्राम छाड़ा ओइ रांगा माटीर पथ।

(स) बसन्ते की शुधु।

रवीन्द्रनाथ पर पाश्चात्य संगीत एवं प्रादेशिक संगीत का प्रभाव :-

19वीं सदी में भारतीय शिक्षा एवं सांस्कृतिक जीवन पाश्चात्य आदर्श से बड़ा ही प्रभावित होने लगा था। ठाकुर परिवार भी पाश्चात्य आदर्श से अत्यन्त प्रभावित होने लगा था।

पाश्चात्य संगीत की प्रधान वस्तु हार्मनी है। तथा भारतीय संगीत की मुख्य वस्तु राग-रागिनी है। रवीन्द्रनाथ जी ने यूरोपीय एवं भारतीय संगीत दोनों के स्वरूप का अध्ययन किया।

आइरिश, स्कॉच और अंग्रेजी गाने की धुन से प्रभावित होकर रवीन्द्रनाथ कई गीतिनाट्यों की रचना की।

देशी और विदेशी धुनों पर चर्चा करते करते "वाल्मीकि प्रतिभा" का जन्म हुआ। "वाल्मीकि प्रतिभा" के समान "कालमृगया" के भी कई गीत सम्पूर्णतः विदेशी धुनों पर आधारित है।

गीति नाट्य "मायारखेला" में गीत ही मुख्य एवं नाटक गौण है। इसमें यूरोपीय ओपेरा का प्रभाव परिलक्षित है।

वाल्यकाल से ही अनगिनत विविधता के बीच में रवीन्द्रनाथ का लालन-पालन हुआ था। इसलिये वे स्वभाविक रूप से जहां से जो कुछ अच्छी धुने सुनते थे उन्हें संग्रह कर लेते थे और यही संग्रह करने का काम कवि की संगीत साधना का एक विशेष अंग बन गया था। इस प्रकार अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण विश्व विदित हुये और संगीत के क्षेत्र में रवीन्द्र संगीत की अमूल्य देन के कारण सदैव विश्वविदित रहेंगे।

## मानसिक शान्ति हेतु संगीत

डॉ. रामेन्द्र कुमार मिश्र

संगीत को मनुष्य के जीवन को प्रभावित करने वाली एक बड़ी ताकत के रूप में देखा गया है। भाषा के विकास से पहले संगीत के माध्यम से ही संप्रेषण होता था। संगीत चाहे भारतीय हो, पाश्चात्य हो, देशी हो अथवा शास्त्रीय यह एक ऐसी विद्या है, जो किसी में भी जान फूंकने का असर रखती है। इसमें लौकिक तथा अलौकिक दोनों आनन्द मिलते हैं, यह मानव को शान्ति देने वाली कला है। यह श्रोताओं से सीधा सम्बन्ध रखती है।

संगीत का मूल आधार नाद है। नाद को परमतत्व का अंश माना गया है। नाद उत्पत्ति में पंच महाभूत शक्ति होती है। मनुष्य का शरीर भी पाँच तत्वों से मिलकर बना होता है।<sup>1</sup> और यही तत्व जीवन के आधार माने गए हैं। वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया है, कि उक्त पाँचो तत्वों में संगीत प्रचुर मात्र में विद्यमान है। प्राणी मात्र की उत्पत्ति संगीतमय वातावरण एवं संगीतमय तत्वों से परिपूर्ण होती है। स्वर आत्मा का नाद है और आत्मा परमात्मा का स्वरूप। आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से माना जाता है, तथा स्वर का सम्बन्ध आत्मा से माना गया है। इसलिए नाद का मानव मन मस्तिष्क और शरीर के अंगों पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है। यह एकदम परमतत्व से ही सम्बन्धित है। स्वरों का सौन्दर्य यही संगीत का लक्ष्य है, संगीत के मूलाधार स्वर व लय प्रकृति में व्याप्त है। जहाँ चेतना है, वहाँ गति है, वहीं स्वर भी है, ये गुण लुप्त होते हैं। इन्हें संगीत व्यक्त बनाता है, प्रकट करता है। भावों को आकार देने की अलौकिक शक्ति स्वरों में है, संगीत में स्वरों की दिव्य शक्ति का उपयोग किया जाता है। जिसका

सम्बन्ध मन व शरीर के साथ ही आत्मा से भी है। मनुष्य के अन्तरंग तक पहुँचने की इस शक्ति से आत्माभिव्यक्ति को आनन्द मिलता है।

संगीत परमात्मा के आशीर्वाद रूप में मनुष्य को मिला है। जिसका आनन्द हर कोई प्राप्त कर सकता है। इसे मनोभावों की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम माना गया है। यह मानव मन के भावों को अभिव्यक्त करता है, तथा मनुष्य को तनाव मुक्त करके संतुलित व्यवहार की ओर प्रेरित करता है। इससे मानव भौतिक बन्धनों से दूर होकर शांति व आनन्द का अनुभव करता है। भारतीय संगीत में सृजनात्मकता और कल्पना शक्ति का प्रचुर महत्व है। इसी के आधार पर कलाकार अपनी रचना को सौंदर्यात्मक गुणों से सुसज्जित करके श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इसमें आन्तरिक भावों के दिग्दर्शन के लिए कलाकारों को काफी साधना करनी पड़ती है। इसमें हमारे मन को बदलने की शक्ति होती है। जिससे हमारी कल्पना, सृजनशक्ति तथा रचनात्मकता बढ़ती है, इससे व्यक्ति का एकाकीपन भी दूर होता है, यह हमारे मानसिक संतुलन के लिए भी लाभकारी है, जिससे व्यक्ति अपनी कल्पनाशीलता तथा रचनात्मक शक्ति को अभिव्यक्त कर सकता है।

संगीत से मन का अंतर्सम्बन्ध ही नहीं अपितु शारीरिक क्रियाओं का संबंध भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है, संगीत शारीरिक सन्तुलन को प्रभावित करता है, मांसपेशियों की शक्ति को बढ़ाता है, श्वास की क्रिया को गति प्रदान करता है तथा

रक्तचाप और नाड़ी की गति को प्रभावित करता है, व्यायाम की सार्थकता संगीत से सम्पन्न होती है। संगीत के अभ्यास और श्रवण काल दोनों में मन को विश्रान्ति ही नहीं, आत्म प्रसाद भी प्राप्त होता है। इसलिए संगीत साधना को मानसिक तनावों के निवारण की अचूक औषधि भी कहते हैं, गायन को "योगिक स्वास्थ्य साधन" भी कहते हैं, गाते समय मुह, जीभ और होंठ के साथ ही आवाज नाभि से खिंचती है और ब्रह्म रन्ध्र तक पहुँचती है, इस तरह शरीर का भीतरी व्यायाम हो जाता है। गायन से शरीर और मस्तिष्क की नाड़ियों का शोधन होता है, ज्ञान तन्तु सजग होते हैं। द्रुत, मध्य एवं बिलम्बित लय में गाये जाने से वक्षः स्थल और हृदय की रक्त वाहिनी धमनियों पर प्रभाव पड़ता है। गाने से नाड़ी संस्थान से लहरें उठती हैं। इस प्रकार की तरंगावली शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभकारी होती है, गाने से फेफड़े और स्वर यंत्र मजबूत होते हैं, संगीत का अभ्यास करना लाभकारी ही नहीं, श्रवण करना भी उतना ही प्राणप्रद होता है, सुनने से स्फूर्ति, चेतनता और रोमांच होता है। यह श्रोता को सांसारिक बंधनों से मुक्त करके आत्मिक सुख प्रदान करती है, इसी आत्मिक सुख में रोग निवारण की शक्ति है, ऐसा अनुभव किया गया है कि संगीत से मनुष्य में एक प्रकार का विद्युत धारा जैसा प्रवाह उत्पन्न होता है, यही प्रवाह मनुष्य को निरोग करने में सहायता प्रदान करता है।

जीवन की प्रत्येक अवस्था में येन केन प्रकारेण संगीत की कड़ी अवश्य जुड़ी रहती है। दैनिक चर्चा में गाये जाने वाले गीत। किसी विशेष अवसर पर अथवा किसी धार्मिक या सार्वजनिक समारोहों के अवसरों पर होने वाले कार्यक्रम तो संगीत से परिपूर्ण होते हैं। आजकल के परीक्षणों में अनेक ऐसी चमत्कार पूर्ण बातें मिली हैं। जिनके द्वारा अनुसंधानकर्ताओं को अच्छी खासी सफलता प्राप्त हुई है। दैनिक दिनचर्या में भारतीय शास्त्रीय संगीत को सुना जाए तो अनिद्रा तथा अनेक मानसिक तनाव जन्य रोगों से भी छुटकारा पाया जा सकता है, शास्त्रीय संगीत में प्रयोग की जाने वाली मीडियुक्त कम्पोजीशन माइग्रेन

जैसे रोग को भी कम करने में सहायक होते हैं, संगीत का प्रभाव मस्तिष्क तंत्र की उन मांसपेशियों पर बहुत अनुकूल पड़ता है, जिनमें भावनाएँ भरी रहती हैं, ये मांसपेशियाँ संगीत लहरियों के स्पंदन द्वारा निष्क्रियता की अवस्था से निकलकर सक्रिय हो जाती हैं, फलतः तनाव कम हो जाता है।

संगीत तरंगों का प्रभाव जड़, चेतन पर समान रूप से पड़ता है।<sup>12</sup> स्वरों में वह अदभुत शक्ति निहित होती है, जो उनके शुद्ध रूप में मुखरित होने पर प्रकृति को प्रभावित करके आश्चर्य जनक परिस्थिति उत्पन्न कर देती है। संगीत आत्मा पर सीधा प्रभाव डालता है। आत्म सन्तुष्टि से जीवनशक्ति उत्पन्न होती है, तथा मन शान्त हो जाता है। मानव जाति ने अपने अन्तर्मन के भावों एवं अभिव्यक्तियों को स्वर के माध्यम से व्यक्त करके संगीत को परमोत्कर्ष पर पहुँचाया है, जिसके फलस्वरूप संगीत में एक प्रभावपूर्ण शक्ति संचालित होती रहती है, इससे पीड़ित हृदय को शान्ति और संतोष मिलता है। मनुष्य में सृजन शक्ति का विकास होता है, एवं आत्मिक प्रफुल्लता मिलती है। संगीत में शरीर, मन और आत्मा तीनों को बलवान करने वाले तत्व परिपूर्ण मात्र में विद्यमान है, यह आत्मा की उन्नति का सबसे अच्छा उपाय है।

देव-दर्शनो और मेलों पर गाते हुए परिक्रमा आदि देने की प्राचीन काल से प्रथा रही है। परिक्रमार्थियों का विचार था कि गीतों के माध्यम से वे वहाँ की धार्मिक भावनाएँ खींच ले जाते हैं। पर्वों और त्यौहारों पर केवल देवस्थल ही नहीं अपितु संपूर्ण भारत वर्ष संगीतमय हो उठता है। उसी के परिणामतः वृक्ष वनस्पति अधिक और मीठे फल देते थे। पूजा हवन आदि से दूषित तत्वों का संहार होता था जिससे बीमारियाँ आदि कम फैलती थी।

तानसेन के तोड़ी राग गाने पर उसकी स्वर लहरियों को सुनकर मृगों का एक झुण्ड वहाँ दौड़ता हुआ आया। भाव विभोर तानसेन ने अपने गले में पड़ी माला एक हिरन के गले में डाल दी। इस क्रिया से संगीत प्रवाह रूक गया और तभी सब के सब हिरन जंगल की ओर चले गये।

हॉलैण्ड मे गायें दुहते समय गायों को मधुर संगीत सुनाया जाता है। दूधिये रेडियों सैट दुहने के स्थानों पर रख देते है। संगीत को गायें बड़ी मुग्ध होकर सुनती है, उनके उपर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे 15 से 20 प्रतिशत तक अधिक दूध दे देती है। उद्योग के क्षेत्र में पूँजीपति व मजदूरों के सम्बन्धों को सौहार्दपूर्ण बनाने, श्रमिकों का मनोरंजन करने तथा सभी प्रकार के उत्पादनों की लोकप्रियता बढ़ाने की दृष्टि से संगीत का भरपूर उपयोग किया जाता है।

संगीत भावों की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम माना गया है, मानव की विभिन्न मनोदशाएँ संगीत के द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती है। मानव के समस्त सुख-दुख की कहानी संगीत द्वारा चित्रित की

जाती है, इसके प्रभाव मे आकर व्यक्ति शारीरिक व मानसिक विभिन्न प्रकार के व्यवहार का प्रदर्शन करता है। संगीत अपनी विशेषताओं के कारण मानव को तनाव से मुक्त कर उसे संतुलित व्यवहार की ओर प्रेरित करता है, मनुष्य के शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक स्वास्थ्य एवं विकास के लिए संगीत कला बेहद उपयोगी सिद्ध होती है। इससे सम्बन्ध जोड़कर व्यक्ति को आत्मिक सम्पदा का विकास और दूषित तत्वों से मन की रक्षा करनी चाहिए।

### संदर्भ सूची :

1. गर्ग डॉ लक्ष्मीनारायण -संगीत वि, शारद पृ. 524
2. पाठक पं. जगदीश नारायण -संगीत निबन्ध माला पृ. 142

# बिहार में विवाह के अवसर पर गाए जाने वाले भोजपुरी लोकगीत

ऋचा वर्मा

विवाह एक महत्वपूर्ण संस्कार है। संस्कार शब्द 'कृ' धातु में 'सम' उपसर्ग और ध्रु प्रत्यय लगाने से बनता है जिसका शाब्दिक अर्थ है परिष्कार, शुद्धता अथवा पवित्रता। इसका उल्लेख हमें सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। हिन्दू धर्म में संस्कारों का बहुत अधिक महत्व है। ये संस्कार बालक के माता के गर्भ में प्रवेश से लेकर अन्तिम यानी मृत्यु पर्यन्त तक सम्पन्न किए जाते हैं। संस्कारों की संख्या के विषय में विभिन्न मत हैं कुछ ने 40 तो कुछ ने 48 और मनु ने 13 संस्कारों का उल्लेख किया है परन्तु वर्तमान में 16 संस्कार मान्य हैं।

हिन्दू समाज में विभिन्न संस्कार जैसे- जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह और मृत्यु यानि अंत्येष्टि इत्यादि हैं। ये संस्कार मनुष्य के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को समाज द्वारा मान्यता अथवा स्वीकृति दिलवाते हैं।

विवाह संस्कार प्राचीन समय से ही व्यक्ति के जीवन का महत्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। इसकी महत्ता जितनी प्राचीन काल में भी उतनी आज भी विद्यमान है। विवाह शब्द वह धातु में 'वि' उपसर्ग लगाने से बनता है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'वधु' को वर के घर ले जाना या पहुँचाना। विभिन्न मांगलिक अवसरों पर लोकसंगीत की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। हमारे समाज में प्रत्येक संस्कार में प्राचीन काल से ही लोकगीतों के गायन की परम्परा रही है। चूँकि लोकसंगीत लोक यानि जनमानस से जुड़ा होता है तो यह मनुष्य की हर्ष विषाद आदि भावनाओं को प्रकट करने का सबसे

सटीक साधन माना जाता है जिसे स्वरों तथा शब्दों में पिरोकर लोकगीतों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। लोकगीत प्रत्येक क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित होता है जिससे उस क्षेत्र की सभ्यता, संस्कृति और परम्परा की झलक मिलती है। चूँकि हमारा देश विभिन्नताओं का देश है तो यहाँ प्रत्येक क्षेत्र की अपनी अलग अलग भाषा के अनुरूप संस्कार गीत भी हमें विभिन्न भाषाओं में मिलते हैं।

चूँकि बिहार की अन्य भाषाओं में भोजपुरी एक प्रमुख भाषा है तो अन्य भाषाओं की तरह इस भाषा में भी विवाह के अन्तर्गत आने वाली विभिन्न रस्मों के गीत हमें मिलते हैं। विवाह की जो रस्में या रीति-रिवाज होते हैं वे वर तथा कन्या पक्ष के अलग-अलग होते हैं तथा उनके गीत भी अलग-अलग होते हैं।

लोकगीतों में विशेषकर विवाह के जो गीत मिलते हैं उनमें वर को भगवान राम तथा कन्या को देवी सीता के रूप में माना जाता है।

ये हमारी प्राचीन परम्परा रही है कि कोई भी मांगलिक कार्य देव स्तुति करके ही प्रारम्भ किया जाता है। अतः इन विवाह रस्मों से पहले देव या देवी स्तुति के गीत गाए जाते हैं। विवाह के विभिन्न रस्मों के गीत इस प्रकार हैं-

## 1. सगुन -

इस रस्म के जो गीत हमें मिलते हैं वे ज्यादातर शुभ लग्न निश्चित करने वाले होते हैं।

### उदाहरण-

'ए कोर नदिया में दहिया त अमरित जोरन ए  
से दहिया खइहें राजा रामचंदर होइहें अजराबल ए  
से सेनुरा पेन्हिहें सीता देई, इहे हवे सुहवा सोहाग ए'

इस गीत में मिट्टी के पात्र में अमृत का जामन  
देकर जमाए हुए दही को रामचन्द्र द्वारा खाने और  
सिन्दूर धारण कर सीता के सौभाग्यवती होने का  
उल्लेख है।

### 2. तिलक-

यह वर पक्ष के यहाँ होने वाली रस्म होती है। इसमें  
विधिपूर्वक तिलक सम्पन्न होने तथा वर-वधु दोनों के  
पिता के उल्लासित होने से सम्बन्धित गीत मिलते हैं।

### 3. संज्ञा-पराती -

इसका प्रयोजन मुख्य रूप से शुभ कार्यों में भगवान  
को निमंत्रण देना होता है। आज भी मन्दिर में  
भगवान को शादी का पहला कार्ड देकर उन्हें निमंत्रण  
दिया जाता है।

### 4. हरदी चढ़ाई -

यह विवाह में सम्पन्न की जाने वाली एक विशेष विधि  
होती है। यह वर और कन्या दोनों पक्षों में की जाने  
वाली रस्म होती है। इसमें प्रायः उम्र और रिश्ते में बड़े  
व्यक्ति ही वर और कन्या को हल्दी चढ़ाते हैं। मुख्य  
रूप से इसका तात्पर्य मांगलिक आशीर्वाद ही है।

### उदाहरण-

केई जे हरदी उपराजेला, कई बेसाहेला ए  
ए कवन दूलहा के सिरवा, चढ़ावले हरदी सोहावन ए'।

इस गीत में दुल्हे के सिर पर हल्दी चढ़ाकर इस  
विधि को सम्पन्न कराने का उल्लेख है।

### 5. बन्ना-बन्नी -

इसके जो गीत हमें मिलते हैं उनमें मुख्यतः वर तथा  
उसके कुल की प्रशंसा का वर्णन मिलता है तथा  
कहीं-कहीं तो कन्या के गुण का भी वर्णन मिलता  
है। मुख्यतः बन्ना वर पक्ष तथा बन्नी कन्या पक्ष की  
तरफ से गाया जाता है।

### उदाहरण -

'बने, राम के सरूपे गभरू आगर रे बने।  
बने, सीता के सरूपे गुजरी आगर रे बने।।  
इसमें वर को राम तथा वधु को सीता कहा  
गया है।

### 6. नहछू -

इस विधि को सम्पन्न करने के उपलक्ष्य में पुरस्कार  
के लिए नाई के हठ करने पर माँ के द्वारा पुत्र और  
बहू के परिछन के बाद उसको मनोवांछित पुरस्कार  
देने का वचन तथा नहछू की विधि सम्पन्न करते  
समय नाई से नख काटने में पूर्ण सावधानी बरतने  
का अनुरोध आदि इसी प्रकार के गीत मिलते हैं।

### उदाहरण-

'नोह काटू ए नउआ नोह काटू, अंगुरी जनि काटु ए  
देबहुँ में रतन पदारथ, डाला भरि अभरन ए'।।

### 7. विदाई-

यह विवाह की ऐसी विधि है जिसमें माँ की हृदय  
विदारक वेदना का वर्णन मिलता है। कहीं-कहीं हमें  
ऐसे भी गीत मिलते हैं जिनमें कन्या द्वारा शिकावत  
का वर्णन है कि घर वाले उसे अब परिवार से अलग  
कर रहे हैं।

### उदाहरण-

'अम्मा की सँचली गगरिया, त जइसे घीव गागर ए  
सेहो दिहले वावा निकाली, त जइसे जल माऊ  
ए'।।

कुछ अन्य रस्में भी हैं जैसे- सेहरा, द्वारपूजा,  
परिछन, कन्यादान, गोडलग्गी, चौबारी और गौन  
इत्यादि। इस प्रकार इन रस्मों के गीत हमारी समृद्ध  
लोक संस्कृति को दर्शाते हैं।

### संदर्भ सूची :

1. भोजपुरी संस्कार गीत-श्री हंसकुमार तिवारी, श्री  
राधावल्लभ शर्मा
2. षोडश संस्कार विवेचन-पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

## राग समय सिद्धान्त का पोषक : हवेली संगीत

ऋचा शर्मा

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा प्रवर्तित कृष्णभक्ति संप्रदाय पुष्टिमार्ग के मंदिरों की संगीत परंपरा की 'हवेली-संगीत' के रूप में विकसित हुई। ब्रज में इसे आज भी कीर्तन के नाम से जाना जाता है। पुष्टिमार्ग ब्रज में स्फुटित हुआ है किन्तु इसका प्रचार व प्रसार गुजरात में अधिक हुआ। यहां देव मंदिरों को 'हवेली' कहते हैं। जैसे-द्वारिकाधीश के मंदिर को गुजरात में "द्वारिकाधीश की हवेली" के नाम से जाना जाता है।

पुष्टिमार्ग की स्थापना 1550 वि. सन् 1493 ई. में उत्तर प्रदेश के मथुरा जिले (ब्रज का केन्द्र) में गोकुल गांव के गोविन्द घाट पर श्रावण शुक्ल 11 बजे दिन को हुई थी। इस संगीत परंपरा का उद्भव तर्मा से माना जा सकता है।

पुष्टिमार्ग में अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण के बालरूप की पूजा अर्चना के तीन प्रमुख अंग माने गए हैं। राग संगीत, भोग और श्रृंगार। इस भक्ति संप्रदाय में 'राग-सेवा' को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस परंपरा के भक्तगण अपने इष्टदेव को राग संगीत द्वारा ही प्रातःकाल निद्रा से जगाते हैं। राग से ही श्रृंगार वस्त्र-आभूषण, राग से ही भोग खाद्य सामग्री और गोचारण आदि क्रियाओं के पश्चात् राग गायन से ही आराध्य को शयन कराया जाता है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति परंपरा में अष्टप्रहर की नित्य सेवाविधि तथा वर्षोत्सव सेवाविधि का विधान स्वीकृत है। जिसके अंतर्गत प्रतिदिन प्रातःकाल से सायंकाल पर्यन्त आठ बार आठ सेवाओं और वसन्तोत्सव, हिंडोल तथा रासलीला आदि नैमित्तिक आचारों तथा

लोक त्योहार और वैदिक पर्वों के उत्सव, पट्टकृतुओं के उत्सव तथा श्रीकृष्ण की नित्य और अवतार लीलाओं के उत्सव का आयोजन किया जाता है।"

इस परंपरा में श्रीनाथ जी के स्वरूप पूजन में श्रृंगार भोग और राग संगीत द्वारा की गई सेवाविधि के अंतर्गत संगीत तथा संकीर्तन को प्रमुख स्थान प्राप्त था। प्रत्येक समय तथा उत्सव की झांकी में कीर्तन की व्यवस्था थी। हवेली में प्रतिदिन गाए जाने वाले पद नित्य लीला के पद होते हैं। प्रत्येक दर्शन की पदावली में उसी के अनुरूप भाव होते हैं और पदों के राग भी समयानुकूल होते हैं।

इसी प्रकार का उल्लेख डॉ. सत्भान शर्मा ने अपनी पुस्तक "पुष्टिमार्गीय मंदिरों की संगीत परंपरा" : हवेली संगीत के अध्याय तृतीय 'पुष्टिमार्गीय मंदिरों के संगीत का दैनिक व वार्षिक क्रम में किया है जो निम्नवत् है-

### मंगला :

कीर्तनियां भैरव राग की आलापचारी करते हैं और उसी राग में ताल मुक्कत होकर अनिबद्ध गायन के रूप में श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की स्तुति के पद गाते हैं।

भगवान को जगाने के लिए भैरव, रामकली अथवा विभास राग का प्रयोग होता है। कलेवा के पद उपरोक्त रागों में ही गाए जाते हैं। तत्पश्चात् शीतकाल में विशेष रूप से खण्डिता के पद राग ललित में गाए जाते हैं।

### श्रृंगार :

श्रृंगार करते समय कीर्तन बिलावल राग में गाये जाते हैं। श्रृंगार पूर्ण हो जाने पर कीर्तनियां श्रृंगार वर्णन के पद ग्रीष्म ऋतु में बिलावल राग में और शीत ऋतु में तोड़ी और आसावरी राग में गाते हैं।

### राजभोग :

भोजन भगवान के समक्ष रखकर राग धनाश्री में पद गाए जाते हैं। ये पद भी ऋतु अनुसार बदलते जाते हैं यथा-शीतकाल का पद धनाश्री राग में और ग्रीष्मकाल में राग सारंग में पद गाए जाते हैं।

### उत्थापन :

उत्थापन का पद राग नट में गाया जाता है। इस समय की सेवा के लिए धनाश्री तथा भीमपलासी के पद गाए जाते हैं।

### संध्या आरती :

संध्या आरती के लिए आरती के पद रागपूर्वी, नट तथा राग गौरी में गाये जाते हैं। रात्रि के भोजन के समय राग ईमन यमन के पद गाए जाते हैं। राग कान्हड़ा में पद गाकर भगवान को दूध पिलाया जाता है। इसके उपरान्त राग कल्याण में शयन के पद गाये जाते हैं। इसमें राग, विहाग, मालव केदार आदि रागों का भी समावेश है। इन सभी रागों का योग रास में तथा विभिन्न लीलाओं में यथावत समयानुसार किया जाता है।<sup>1</sup> शीतकाल में ठाकुर जी को शयन कराने हेतु राग विहागरी में पद गाया जाता है।

हवेली संगीत परंपरा में राग विधान की दृष्टि से नित्य की अष्टयाम-सेवा का स्वरूप इसी प्रकार है।

प्रातःकालीन झाकियों में जहां ग्रीष्मकाल में विलावल, सारंग राग गाये जाते हैं, वहीं शीतकाल में तोड़ी व आसावरी राग गाये जाते हैं।<sup>1</sup>

अतिशय शीत में ललित, मालकोश, पंचम और नट राग गाये जाते हैं। किन्तु शाम की झाकियों में उत्थापन व भोग के रागों में कोई अंतर नहीं है। इनमें पूर्वी व गौर तथा नट रागों का ही योग मिलता है। शयन में प्रयुक्त राग केदार, गर्म राग व कल्याण, हमीर, अड़ाना ठंडे राग माने हैं।<sup>1</sup>

इस तरह हम देखते हैं कि इस परंपरा में अनेक रागों के प्राचीन स्वरूप आज भी दृष्टव्य है। अनेक ऐसे राग जो आज लुप्त हो गए हैं, इस परंपरा में श्रवणीय है तथा आज भी सुने जा सकते हैं। अनेक रागों के अनेक प्राचीन प्रकारों के भी दर्शन यहां संभव है।

निष्कर्षतः समयानुकूल राग व साहित्य तथा साहित्य के अनुकूल संगीत-रचनाएं इस परंपरा की निजी विशेषताएं हैं। इसके अतिरिक्त अपूर्व राग नाम, संगीत के बन्ध, नृत्य परक पद इत्यादि के समृद्ध यह संगीत परंपरा पांच शताब्दियां विता चुकी है और आज भी भारतीय संगीत के आध्यात्मिक पक्ष को प्रत्यक्ष रूप से समझने और उसे आत्मसात कराने में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस दृष्टि से हवेली संगीत परंपरा को ना सिर्फ संगीत के आध्यात्मिक पक्ष बल्कि प्राचीन राग संगीत और उसमें निर्दिष्ट समय सिद्धांत की एक पोषक परंपरा के रूप में भी समझा जा सकता है।

### संदर्भ सूची :

1. सक्सेना डॉ. राकेश बाला, ब्रज के देवालियों में संगीत परंपरा, पृ. 58
2. शर्मा डॉ. सत्यभान, पुष्टिमार्गीय मंदिरों की संगीत परंपरा हवेली संगीत, पृ. 85
3. वही
4. वही

## बिहुला-विषहरि लोकगाथा : अंग जनपद के विशेष संदर्भ में

नीलम कुमारी

लोकभाषा में क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के साथ ही साहित्य की रचना होने लगी जिनमें भावपूर्ण गीतमय रचनाएँ हैं:- विद्यापति का मैथिली में, भिखारी ठाकुर का भोजपुरी में, भवप्रीतानंद का अंगिका में बड़े भाव से गाए जाते हैं।

गाथा शब्द का प्रयोग वेदों और पुराणों में हुआ है। गीत-प्रबंधों का उल्लेख ऋग्वेद में गीति, गाथा, गायत्र तथा साम के नाम से पाया जाता है। गाथा एक विशिष्ट तथा परम्परागत गीत प्रकार है जिनका गायन धार्मिक तथा लौकिक समारोहों पर किया जाता था। प्राचीन परम्परा पर अधिष्ठित होने के कारण इन गाथाओं को ऋचाओं से तुल्य माना जाता था :-

*“यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।”*

*इन गाथाओं के गायक ‘गाथिन’ कहलाते थे।”*

अरण्यक तथा ब्राह्मण ग्रंथों में भी गाथा शब्द का उल्लेख मिलता है। प्राचीनकालीन राजाओं या देशभक्तों के महान चरित्र होते थे वे जनसमूह द्वारा गाए जाने पर ‘गाथा’ कहलाते थे। लोकगीत एवं लोकगाथाओं की परम्परा पुरानी है। अंगिका के लोकगीत एवं लोकगाथाएँ अंग जनपद में जगह-जगह गाए जाते हैं। गाँवों में लोग बड़े भाव से सस्वर इन गीतों को गाते हैं। लोकभाषा लोकगाथा की सहज अभिव्यक्ति है। इसमें बनावटीपन नहीं है जनसाधारण लोग जन्म से जो भाषाएँ बोलते हैं वह जनभाषा ग्रामभाषा, जनपदीय भाषा, या लोकभाषा कहलाता है।

इन कथात्मक गीतों के लिए डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगाथा शब्द का प्रयोग किया है। यह नाम सर्वथा उपयुक्त लगता है, क्योंकि इसमें लोकतत्व, कथातत्व और गेयतत्व का सम्यक समाहार है।<sup>3</sup>

ये लोकगाथाएँ क्षेत्र विशेष और संस्कृति विशेष से प्रभावित होते हैं। अंग जनपद में लोकगाथा का गायन ‘भगैत’ कहलाता है। भगैत में लोकगाथा के नाटकों के चरित्र का गायन होता है। ऐसे लोकनायक प्रायः निम्न वर्ग के होते हैं लेकिन उनका चरित्र महान होता है। जो अपना एक महत्वपूर्ण छाप छोड़ जाता है।

अंग जनपद में गाथा काव्य का गायक विभिन्न भाष (राग) में पूजा पाठ के अवसर पर विवाह, पर्व या किसी विशिष्ट अवसर पर होता है।

प्रमुख अंगिका गाथा काव्य हैं :- सती बिहुला, सलेश भगत, बाबा विसुरती, हिरणी-बिरनी लोरिकायन भी आदि।

अंगजनपद की अमर लोकगाथा ‘बिहुला-विषहरि’ की सती बिहुला पौराणिक काल की सती सावित्री और अनसूया जी से कम महत्व नहीं रखती है। जिस तरह सती सावित्री ने अपने पतिव्रत्य धर्म के प्रभाव से अपने मृत पति को जीवित कर लिया था। उसी तरह बिहुला भी अपने मृत पति के प्राण लौटा लाने में सक्षम हुई थी। एक ऐसी भारतीय नारी जिसने अपने संतबल से एक महान सती नारी का आदर्श किया है। एक ऐसी देवी जिसकी पूजा का शुभारंभ भूलोक में अंगजनपद की राजधानी चम्पानगर से हुआ। जिस गाथा में लोक छंद की सुगंध है और

अलंकार की अनमोल छटाएँ, जिसमें हमारी लोकसंस्कृति, लोककला, लोकभाषा, लोकसाहित्य, हमारे पारम्परिक आचार-विचार संस्कार, विधि-विधान आदि के इतिहास समाविष्ट हैं।

बिहुला-विषहरि का विस्तार बंगाल एवं विहार में विशेष रूप से हुआ। मनसा-पूजा के साथ-साथ चाँदो सौदागर की कथा इससे जुड़ी हुई है। नागमाता मनसा की प्रतिमा के साथ चाँदो सौदागर, बिहुला एवं बाला की प्रतिमाएँ भी गढ़ी जाती है 'मनसा मंगल' शीर्षक बंगला की कथा पुस्तक में पद्यात्मक रूप से इस कथा की संरचना की गई है।

वेदों की ऋचाओं में ब्राह्मण ग्रंथ के मंत्रों में पुराणों के मंत्रों में, गेयात्मकता ही है जो लोकगाथा की महत्ता को युगो तक संरक्षित रखने में समर्थ है। ठीक इसी प्रकार बिहुला-विषहरि लोकगाथा में संगीतात्मकता है जिसकी निःश्रुति गेयता से ही होती है। यह संगीत ही है जिसने बिहुला-विषहरि लोकगाथा को लोकप्रिय बनाया है। इस प्रकार की गाथाओं को गाए जाने का सुर अलग होता है। जिसमें ग्राम प्रांतों की संगीतात्मकता का खाँटीपन, स्नेहपन का आभास होता है। ये चित्ताकर्षक स्वर लोकगाथाओं के प्राण हैं। जहाँ क्रोध भाव होता है वहाँ वीर राग हो जाता है। जहाँ समभाव है वहाँ स्वयं समभाव हो जाता है। जहाँ करुणा है वहाँ स्वयं विलाप भाव के स्वर हो जाते हैं। जहाँ प्रार्थना है वहाँ स्वयं समर्पण के भाव हो जाते हैं। ये भाव कथा वस्तु के अनुरूप अनायास रचित हैं या उद्बुद्ध। गेयता ही इन लोक गाथाओं के प्राण हैं। पुरातन काल से आज तक यह लोकगाथा गेयता के आधार पर ही एक कंठ से दूसरे कंठ एवं एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक व्याप्त हुई हैं। इस लोकगाथा को बाँचने वाले विशिष्ट गायक होते हैं, जो इसे सुमधुर स्वर से गा सकते हैं। स्वर का आरोह-अवरोह इसकी लयात्मकता एवं टेक का निर्वाह अच्छी तरह किया जाता है। इस लोकगाथा स्वर में अधिकांशतः शुद्ध स्वर को देखा जाता है। गायनक्रम का अधिकांशतः स्वर शास्त्रीय रूप में आसावरी, तिलककामोद, देश, बिलावल, खमाज आदि लोकरंजन रागो के स्वरूप का आभास करता है इन्हीं सभी

स्वरों से लोकगाथा गायन प्रसिद्ध है। लयात्मकता ताल और इसका विभाग स्पष्ट नहीं होता है। लेकिन बजाने पर सात या आठ मात्रे वाले ताल का बोध होता है। लेकिन ताल का प्रत्येक मात्रा प्रवृत्त है। खाली नहीं के बराबर है गीतानुसार लय में परिवर्तन होता है शास्त्रीयता के अभाव में अधिकांश गीत क्रम में सप्तक बदला रहता है। द्रष्टव्य है बिहुला-विषहरि लोकगाथा के गीत एवं इसकी स्वरलिपियाँ :-

होरे राति चलली गे बिहुला ससुर के राज गे।  
होरे काँदे तो लागली हे वासू धरती लौटावै हे।  
होरे नगर के लोग रे काँदे बिहुला घड़ी तो पहर रे।  
होरे समदे लागली गे बिहुला बाबा गरमा लागी गे।  
होरे तोरे हमरे हो बाबा एते दरशन हे।  
होरे समदे लागली गे बिहुला माता गरमा लागी गे।

गम	प	म	प	ग	सा	सा	ग
च	ल	ली	गे	हो	रे	रा	ति
गप	म	प	-	प	म	प	प
स	सु	र	S	S	वि	हु	ला
गम	ग	-	-	ध	-	ग	-
जे	गे	S	S	के	S	रा	S
गध	ध	ध	प	नि	नि	रें	सां
तो	S	ल	ग	हो	रे	काँ	दे
गग	म	घ	-	म	-	म	म
सू	ध	र	ती	ली	हे	S	वा
गम	-	-	-	ध	प	म	प
वे	S	S	S	लौ	S	टा	S

### संदर्भ सूची :

1. उद्बुद्ध अप्रबुद्ध कृत 'ऋग्वेदाचा संदेश, पृष्ठ सं- 232
2. परांजपे डॉ. शरचन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, वाराणसी पृष्ठ सं.-20
3. उपाध्याय कृष्ण देव - लोक साहित्य की भूमिका

# राधावल्लभ भक्ति सम्प्रदाय में निर्वाहित गायन शैली : धमार

पायल शर्मा एवं डॉ. सुधा सहगल

राधावल्लभ सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय का एक प्रमुख सम्प्रदाय है जिसमें संगीत एवं सांगीतिक वाद्य, रागों एवं साहित्य का उत्कृष्ट निर्वहन किया जाता है। इस सम्प्रदाय में समाज गायन के अन्तर्गत ध्रुपद एवं धमार गायन शैलियों में धार्मिक साहित्य को विशुद्ध सांगीतिक रूप दिया जाता है। यद्यपि ध्रुपद गायन शैली का प्रयोग तो अधिकांशतः किया जाता है किन्तु धमार गायन शैली को भी अत्यन्त गाम्भीर्य, सरस तथा ओजपूर्ण गायकी द्वारा निर्वाहित किया जाता है तथा इस सम्प्रदाय में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार विभिन्न शताब्दियों में संगीत साहित्य का प्रयोग होता रहा तथा इस सम्प्रदाय की धमार गायन शैली क्या है? इस सभी प्रश्नों का उत्तर विस्तारपूर्वक दिया जा रहा है-

**धमार क्या है-**

**धमार का अर्थ** - 'धमार' शब्द की व्युत्पत्ति 'धम' धातु में 'अल' प्रत्यय के संयोग से मानी जा सकती है। संस्कृत धातु 'धम्' का अर्थ सुलगाना, भड़काना, जोर से फूंकना एवं बजाना है। सूत्र 'रलयोर-भेदः' के अनुसार 'र' एवं 'ल' वर्णों में अभेद हैं अतएव इस दृष्टि से 'धमार' एवं 'धमाल' शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। इस दृष्टि से धमार शब्द का शाब्दिक अर्थ 'धम' जैसी ध्वनि वाला अथवा धूम मचाने वाला सिद्ध होता है।

**सांगीतिक अर्थ** - धमार ताल में निबद्ध राधा-कृष्ण प्रधान होली पर्व की भक्ति पदावली से युक्त गायन शैली से लिया गया है जिसमें होली पर्व

का उल्लास, उमंग, ओज विशेष रूप से धमार ताल का सम चमत्कारिक रूप से परिलक्षित होता है। आचार्य बृहस्पति के अनुसार इस शब्द की संस्कृत व्युत्पत्ति (धम्क्रुअच्) 'धम इव ऋच्छति' हो सकती है जिसका अर्थ होगा- गान का वह प्रकार जो प्रेरित करता हुआ अथवा फड़कता हुआ सा चले।

धमार गायन का सम्बन्ध राधाकृष्ण लीला है एवं धमार के पदों में भगवान कृष्ण की होरी लीला का व्यापक वर्णन होता है। अतः कहा जा सकता है कि 'धमार' ब्रज भाषा का शब्द है।

**ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में राधावल्लभ सम्प्रदाय में व्यवहृत संगीत एवं साहित्य**

ऐतिहासिकता की दृष्टि से इस सम्प्रदाय का उद्भव 16 वीं शताब्दी माना जाता है। विकास की इस 16 वीं शताब्दी में जबकि भगवद् भक्ति की भव्य भूमि पर पंच विधिमूलक भक्ति रस की अनेक धाराओं का प्रारम्भ हो चला था, उसी समय श्री हिताचार्य ने रसोपासना के माधुर्य-घर्षण के उद्देश्य से इस 'समाज-संगीत' का आविर्भाव किया। डा. विजयेन्द्र स्नातक ने हरिवंश जी के ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनमें राधा सुधानिधि, श्री हितचतुरासी, स्फुटपद, यमुनाष्टक है। इस शताब्दी में इस सम्प्रदाय के श्री दामोदर सेवक जी (सं.1577-1610) ने संगीत एवं साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

इस समाज में सांगीतिक वाद्यों में तानपुरा, सारंगी, हारमोनियम, स्वरवाद्य, झांझ, पखावज, रबाब, डफ, बांसुरी, दुन्दुभि आदि बजाये जाते हैं। नृत्यविधान

के अन्तर्गत 'ढाँडी-ढाँढिनी' नृत्य प्रसिद्ध है। इसका आयोजन जन्मोत्सव के अवसर पर ही हुआ करता है। इस प्रकार से यह 'समाज-संगीत' गायन, वादन और नृत्य, संगीत के इन तीनों अंगों से परिपूर्ण है। इस समाज में 'होरी-धमार' के पद प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। श्री हित हरिवंश जी कृत 'हित चतुरासी' में 14 रागों का उल्लेख मिलता है जिसमें विभास, मांझ, विलावल, तोड़ी, आसावरी, घनाश्री, बसन्त, देवगंधार, सारंग, मल्हार, गौड़, गौरी, कल्याण, केदार राग हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय में धमार अधिक गाया जाता था-

“गावत सुन्दर हरि सरस धमारि।

पुलकित खग मृग बहन न वारि।।

- 'हित चतुरासी' पद 27, पृ. 73

सांगीतिक पारिभाषिक शब्दों जैसे सप्तसुर, राग-रागिनी, तान आलाप, नृत्य, ताल आदि का प्रयोग पाया जाता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्री हित हरिवंश जी के पश्चात् संगीत के संसार में आचार्य श्री हरिराम व्यास (समय सं. 1549-1655) जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। विद्वानों के अनुसार श्री हरिराम व्यास जी के 3 ग्रन्थ- 'व्यासवाणी', 'रागमाला', 'नवरत्न' और 'स्कन्ध में पद्धति', जिनमें 'व्यासवाणी' ही प्रकाशित है। व्यासवाणी में संगीत के पारिभाषिक शब्द-ताल, श्रुति, आलाप, राग, रागिनी, तान, स्वर, धमार जैसे शब्दों के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के वाद्य तत्, अवनद्ध, सुषिर, घन वाद्यों का भी उल्लेख किया है। व्यास जी ने तालों की श्रृंखला में चर्चरी, अठताली, रूपकताल, चौताल, सूलताल, एकताल, त्रिताल, झपताल आदि का प्रयोग किया है। इसके साथ-साथ नृत्य के बोलों का पदों में उल्लेख किया है। यथा- ता ता थई, तत्-तत् थैई-थैई आदि। इस सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख ग्रन्थों में राधावल्लभ भक्तमाल, हित चतुरासी, सेवक वाणी, चतुरासी सेवकवाणी, युगलवाणी, बसन्त प्रबन्ध, वाणी, स्फुटवाणी, व्यासवाणी आदि प्रमुख हैं। 16 वीं शताब्दी के समाज गायकों में श्री व्यास सुवन जी, सुमोखन लाल जी, परबोध नंद जी, नाहरमल जी, व्यास करन, आसुधीर जी, व्यासनंद जी प्रमुख हैं। 17 वीं

शताब्दी के समाज गान का सबसे पहले प्रमाण 16 वीं शताब्दी के प्रथम चरण की प्रथम रचना मंगल मुदित जी कृत 'रसिक अनन्य माल' में मिलता है। इस समय तक 'समाज गायन' उपासना का एक अभिन्न अंग बना हुआ था। इस समय तक समाज गायन को उत्सवों का प्रतीक मान लिया गया था। फलतः इसका पर्याप्त प्रचार भी हो गया था। 'हवेली-संगीत' का प्रारम्भ इसी शताब्दी में हुआ। श्री हित हरिवंश कृत राधासुधानिधि ग्रन्थ है जिसमें अनेक टीकाकार प्राप्त होते हैं। इस शताब्दी में राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्री दामोदर स्वामी जी (1670-1700 वि.स.) का नाम प्रमुख है। इन्होंने नित्य तथा नैमित्तिक सेवा के अनेक पद रचे। 'राधावल्लभ भक्तमाल' नामक ग्रन्थ में इनके 30 ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। दामोदर स्वामी जी ने भी पदों में अनेक रागों का प्रयोग किया है। होरी डोल के पद, लाडिली जू बधाई के पद आदि सब विभिन्न रागों में बद्ध हैं। दामोदर जी ने अधिकतर होरी धमार के पद धनाश्री राग में, बसंत ऋतु के पद राग बसन्त में, जल विहार के पद सारंग में, झूलनोत्सव के पद मलार में, बधाईयाँ आसावरी, मारु, देवगंधार, धनाश्री आदि रागों में बद्ध की हैं। उन्होंने पदों में गायन/वादन नृत्य का भी उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार 16वीं शताब्दी में समाज गायन में श्रीकृष्ण की अन्य लीलाओं का गान किया जाता था एवं धमार गायन के अन्तर्गत श्री कृष्ण की होली विषयक लीलाओं का वर्णन किया जाता था। उसी प्रकार 17वीं शताब्दी में इसी परम्परा का निर्वहन किया जाने लगा। अन्तर इस बात का रहा कि पदों की संख्या में वृद्धि हो गयी। जिसका गायन समाज में किया जाता था। 17वीं के समय समाज गायकों में चुन्नीदास उपाध्याय, श्री राधिका शरण जी, वृजविहारी (मुखिया) मोहनलाल जी, गो. युगलाल जी, गो. मनोहर लाल जी, गो. परमानन्द लाल जी, गो. छेदीलाल जी, गो. जुगल वल्लभ हुब्ब लाल जी (सारंगी वादक) झल्लाभट्ट जी (झांझ वादक), कुंज बिहारी जी (पखावजी) आदि प्रमुख हैं।

18वीं शताब्दी में बरसाने में श्री राधा जन्मोत्सव उनकी आज्ञा से प्रारम्भ किया था। इसलिए नागरीदास

जी आजीवन प्रतिवर्ष उसे उसी प्रकार मनाते रहे। इतना ही नहीं उनके पश्चात् राधावल्लभीय गीत्यामीगण भी वृन्दावन से बरसाने जाकर यह उत्सव उसी प्रकार मानते रहे। वृन्दावनदास जी ने 18वीं शताब्दी में होने वाले बरसाने के श्री राधा जन्मोत्सव समाज का वर्णन किया है। इस शताब्दी में जहाँ पर एक ओर नैमित्तिक उत्सवों पर समाज गान के प्रचुर प्रमाण प्राप्त हैं, वहीं पर नित्य उत्सवों पर भी समाज गान की अखण्ड परम्परा प्राप्त होती है। इस समय तक यह समाज गान ब्रज तक ही सीमित न रहकर भारत के अन्य देशों तक पहुँच चुका था। इस समय में अधिकांशतः सभी रचनाओं में श्री राधावल्लभ मन्दिर में होने वाले उत्सवों का उल्लेख मिलता है। इस सम्प्रदाय में श्री ध्रुवदास जी (समय सं. 1650-1775) सांगीतिक व साहित्यिक रूप से विशिष्ट योगदान दिया है। इनका साहित्य 'बयालीस लीला' के नाम से प्रसिद्ध है। बयालीस लीला वाणी के 42 विविध लीलाओं का वर्णन किया है। ध्रुवदास जी के कुछ फुटकर पद भी मिलते हैं जिन्हें 'बयालीस लीला' में 'पदावली' नाम दिया गया है। ध्रुवदास जी ने इन पदों को शास्त्रीय संगीत के रागों में बद्ध किया। जैसे - विभास, रामकली, ललित, आसावरी, तोड़ी, केदार, मारू, विहागड़ा, वसंत, गौरी, काफी, यमन, विलावल, कान्हड़ा इत्यादि है। श्री ध्रुवदास जी के अनेक वाद्यों का भी वर्णन किया है जैसे दुंदुभी, पखावज, वीणा, सरोद, सारंगी, मृदंग इत्यादि। अतः राधावल्लभ सम्प्रदाय में बयालीस लीला का विशेष स्थान रहा है। इस समय के अन्य प्रमुख ग्रन्थों में वृन्दावनदास कृत 'हितरूप चरित्र', 'गुरु कृपा चरित्र', 'बेली', गो. ब्रजलाल जी द्वारा 'सेवा विचार' 'वर्षोत्सव पदावली', प्राणनाथ द्वारा 'प्रश्नोत्तरी', 'हस्तामलक', अतिवल्लभ द्वारा 'उत्सव वीज' समय प्रबंध आदि है। इस शताब्दी में समाज गायकों में भोलानाथ जी, रसिकलाल जी, श्यामलाल जी, जुगल लाल जी, मुरलीधर जी आदि प्रमुख हैं।

19वीं शताब्दी में उत्सवों का सामयिक क्रमबद्ध वर्णन रसिकवर खुश्याल जी की 'उत्सव वर्ष दिन के' नामक एक लघुकाय रचना में प्राप्त होता है। इस रचना में श्री हित जन्मोत्सव को बड़ा उत्सव लिया

है। इस शताब्दी तक ध्रुपद/धमार गेय विधाएँ ही भक्ति सम्प्रदाय में शास्त्रीय संगीत का मूल रूप बन चुकी थी। अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों में भी कीर्तन के शास्त्रीय स्वरूप हेतु ध्रुपद/धमार को ही अपनाया गया। चाचा वृन्दावनदास (समय 1765-1844) ने इस शताब्दी में समाज गायन में अपना विशिष्ट योगदान दिया है। इनकी तुलना में अन्य आचार्यों के न तो इतनी संख्या में ग्रन्थ मिलते हैं और न ही उन्होंने ग्रन्थों में वर्णित पदों को इतने असंख्य रागों में बद्ध किया है। 'ब्रज गाधुरी सार' में कहा गया है कि इन्होंने 4 लाख पदों की रचना की है। इस पुस्तक में 11 ग्रन्थ प्राप्त होते हैं राधावल्लभ में चाचाजी ने 118 ग्रन्थों की रचना की है वृन्दावन जी की रचना 'लाडू सांगर' नामक ग्रन्थ में पदों को विभिन्न रागों जैसे भैरव, विलावल, रामकली, आसावरी, सारंग, गौरी, पंचम, परज, मारू, सोरठ, काफी, हमीर, केदार, कान्हड़ा, विभास, श्री, देवगंधार, तोड़ी, पूर्वी, जयजयवन्ती, यमन इत्यादि में बद्ध किया है। तालों की शृंखला में झपताल, चौताल, दीपचन्दी, कहरवा, इकताल, सूलताल, रूपक आदि का प्रयोग किया है। सांगीतिक पारिभाषिक शब्दों में ग्राम, सुर, नाद, आलाप, राग, ताल आदि का उल्लेख किया है। वृन्दावन जी ने समाज गायन के अनेक वाद्यों रवाव, डफ, मृदंग, झांझ, घण्टा, शहनाई, तम्बूरा, वीणा, सारंगी, सितार, तबला, आदि का प्रयोग किया है। इस शताब्दी के रूपलाल जी (समय सं. 1775-1875) ने भी इस सम्प्रदाय में विशेष योगदान दिया है। रूपलाल जी रचित पदों के दो संग्रह 'प्रथम' विजय चौरासी और 'द्वितीय' विजय चौरासी प्राप्त है। इन्होंने अनेक पदों की रचना की है। 'वर्षोत्सव' पद संग्रह के अन्तर्गत सभी पदों में रागों का प्रयोग किया गया है जैसे धनाश्री, काफी, सारंग, विभास, रामकली, जैतश्री, बसन्त, पूर्वी, गौड़, सारंग, मलार, अड़ाना, तोड़ी आदि का प्रयोग दिखाई देता है। रूपलाल जी ने वाद्यों के अन्तर्गत मृदंग, डफ, मुरली, शहनाई इत्यादि का प्रयोग किया है। इस शताब्दी के समाज गायकों में बालकृष्ण राधिकादास, मुरलीसखी, प्रियादास, लहरी जी, किशोरीदास, श्यामदास, बल्लभ, तुलसी, धर्मदास, हरिदास, जैकृष्ण प्रमुख हैं।



इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि राधावल्लभ भक्ति सम्प्रदाय में निर्वाहित धमार गायन शैली अत्यन्त लोकप्रिय एवं समृद्ध है। इस गायन शैली को शिक्षण संस्थानों में भी निर्वाहित किया जाता है तथा मंच प्रदर्शन करने वाले उच्च वर्गीय कलाकार भी इसका गायन करते हैं। किन्तु जो लालित्य भक्ति भाव रागों का प्रयोग ताल का सरल, सरस, जटित, एवं चमत्कृत प्रयोग जो इस सम्प्रदाय में

दृष्टव्य होता है अन्यत्र कहीं नहीं हो अतः एक शोधार्थिनी के नाते मैं निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि भक्ति सम्प्रदाय में व्यवहृत किये जाने वाले धमारों का विधिवत् प्रयोग शिक्षण संस्थानों में भी किया जाना चाहिए। जिससे धमार गायन शैली के समृद्ध स्वरूप का एक व्यापक स्तर मिलेगा वहीं दूसरी ओर संगीत के विद्यार्थियों को भी हम चहुँमुखी शैली के गायन एवं प्रयोग का अनुभव हो सकें।

# रवीन्द्रनाथ की संगीत जगत को देन

रुचि श्रीवास्तव

‘वह सुर ही तो है जो भोर के निःशब्द पंछी के आगमन की सूचना देता है।’ ये शब्द हैं कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जिन्होंने संगीत के एक नई विधा को जन्म दिया उसी विधा का नाम है ‘रवीन्द्र संगीत’ जिसका प्रभाव समूचे पूर्वी भारत पर तो है ही, अन्यत्र भी उसे गाया-बजाया जाता है। सन् 1825 ई. को रवीन्द्र संगीत शब्द सर्वप्रथम प्रयुक्त किया गया।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय संगीत को एक अभिनव स्वर से परिचित कराया है, जो उस समय तक पूर्णतः अज्ञात था। उनके गीतों ने जीवन को प्रवहमान क्षणों की चित्तवृत्ति को अभिव्यक्ति दी है। भैरवी रागिनी के भावात्मक निर्वोच्यव्यक्तिक प्रायः को अब अनेक प्रांतों में वैयक्तिक रूप प्रदान किया गया है। बासंती प्रात, पावस का भीगा उल्लासहीन प्रात, पतझड़ का प्रात, वेदना-कलित प्रात, प्रेम से कोमल और उष्ण बना प्रात आदि। इन समस्त प्रात-वेलाओं ने और अन्य अनेकों ने भी ठाकुर के गीतों में रागिनी का रूप ग्रहण किया है। अपनी सार्वभौमता को रंच-मात्र भी नष्ट किए बिना ये गीत ठोस-मूर्त और वैयक्तिक हो गए हैं।

कला का कार्य व्यक्ति के विचार, भावावेग और भावुकता का साक्ष्य प्रस्तुत करना है। रवीन्द्रनाथ के गीतों ने व्यक्तिगत प्रगीतात्मक मूल-श्रोत को अमूर्त शास्त्रीय संगीत की सीमातीत विशालता से परिचित कराया है।

भारतीय संगीत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक महान देन है। भारतीय संगीत के विकास में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों ने एक अन्य तत्व भी प्रस्तुत किया

ह। भारतीय शास्त्रीय दरवारी संगीत विभिन्न राग-रागिनियों के असंबद्ध सूत्रों के गुंफन का श्रेष्ठ उदाहरण है। पुंसत्वहीन गीतों को पोषित करने के प्रयत्न में सुन्दर रागिनियों ने स्वयं को निःशेष भाव से अर्पित कर दिया है। रागिनी मात्र एक पात्र थी, जिसमें दकियानूसी विचारों को भर दिया जाता था। रवीन्द्रनाथ का संगीत अद्वितीय गीतात्मकता और उन्नत रागिनी का सुंदर संगम स्थल है। प्रगति और रागिनी के मध्य कोई विरोध नहीं है। शब्द रागिनी में अवरोध नहीं उपस्थित करते और रागिनी प्रगति के आधिपत्य को स्वीकार नहीं करती। जैसा कि परम्परागत भारतीय संगीत में व्यवहृत है, ठाकुर के लिए गीत के शब्द रागिनी के ढाँचे को बनाए रखने के लिए उपकरण मात्र ही नहीं थे। ठाकुर की राग में गीत रागिनी ही नहीं है, अपितु वह उससे अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है। यह तो गहन भावावेगों से अनुस्यूत शब्दों का उन भावावेगों को प्रभावोवादात्मक स्वरात्मक रूप देने के योग्य-रागिनी के साथ मिश्रण है।

## लय और गति

नई रागिनियाँ केवल प्रचलित रागिनियों के मिश्रण और स्वरों के नवीन संयोग के विकास द्वारा ही नहीं, वरन पंक्ति में स्वरों की लयात्मक व्यवस्था के द्वारा निर्मित की गई थी। संयुक्त व्यंजनों को दो आघातों के रूप में ग्रहण कर और स्वरों की विलंबित प्रतिध्वनि के साथ शब्दों के बीच के व्यवधान की पूर्ति करके रवीन्द्रनाथ ने बंगाली काव्य को लचीलेपन के अभाव को दूर किया। यह विभिन्न मार्गों में से एक था,

जिसके द्वारा कवि को बंगाली कविता को लयात्मक मुक्ति ही है। बंगाली-काव्य ने लयात्मक-गत्यात्मक और सहज प्रवणता को प्राप्त किया और वह पवन सदृश गतिशील तथा जीवन के संग तरंगमयी हो गई।

गीतों के क्षेत्र में भी कवि ने नवीन लयों की सृष्टि की है। सचमुच गीत और कविता की लयों में एक मौलिक अंतर है। कविता में शब्द अपने स्वाभाविक उच्चारणों को कम या अधिक मात्र में सुरक्षित रखते हैं किन्तु ये ही शब्द जब गीत की रागिनी के साथ गूँथ दिए जाते हैं तो या तो उन्हें बढ़ा दिया जाता है या घटा दिया जाता है गीत के शब्दों के स्वाभाविक उच्चारणों को नए आयाम प्रदान किए जाते हैं। गीत की लय का अपना निजी मार्ग होता है। गीतों के भावात्मक विषयों को दृष्टिपथ में रखते हुए ठाकुर ने लयात्मक रूपांतरों की सृष्टि की है। कभी-कभी उन्होंने संयुक्त व्यंजनो के साथ शब्दों के प्रयोग के द्वारा इन रूपान्तरों को प्रस्तुत किया है- 'प्रान चए चाक्खु ना चए, नील अंजन घन', 'सर्व खर्वतरे देह'।

कभी-कभी ध्वनि के आदर्श के अनुसार शब्दों की व्यवस्था के द्वारा लयात्मक नवीन परिवर्तन की सिद्धि की गयी है जैसा कि 'बाजो रे वंशरी बाजो' गीत की इस पंक्ति में है मधुकर पदभर कंपित चंपक अंजने।

ठाकुर के गीतों में विकास के चार विभिन्न स्तरों के दर्शन होते हैं। प्रथम काल में ठाकुर के गीतों के रागात्मक ढाँचे में सौन्दर्यवर्द्धक मुहावरों की अवहेलना-सी मिलती है।

ठाकुर भारतीय संगीत की नियमनिष्ठता और व्यामिश्रण के ऊबकर लोक-गीतों की ओर प्रवृत्त हुए और उन्होंने अपने अस्तित्व को लोक-रागिनी की उस जीवंत धारा में निमज्जित कर दिया, जो संपूर्णतः इसी भूमि से निःसृत हुई थी। लोक-गीतों के रागिनी-रूपों की ग्राम्यता ने अपनी स्वाभाविक अपर्याप्तता ठाकुर के समक्ष व्यक्त कर दी। अपनी रागिनी-रचना के चतुर्थ काल में ठाकुर ने नई रागिनियों के सर्जनार्थ लोक-धुन को शास्त्रीय धुन के साथ समन्वित कर दिया।

परम्परा को पूर्णतः अस्वीकार कर देना न तो वांछनीय है और न संभव ही। यह सिद्धान्त संगीत के विषय में भी समान रूप से लागू होता है। राग और रागिनियों के परिवेश से बहिर्गमन करके कोई भी व्यक्ति नवीन रागिनियों की सृष्टि नहीं कर सकता। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में हम कह सकते हैं- "में बंधनों में निर्बन्ध होते हुए भी राग और रागिनियों की सीमा का पूर्णतः अतिक्रमण नहीं कर सकता। बहुत पहले ही मैंने यह शोध किया था कि यद्यपि व्यक्ति काल-कोठरी के बंधन से पलायन कर सकता है, तथापि अपने निवास-स्थान को सहता है। मुझे विश्वास है कि यह सदा ऐसा ही होगा। कला के चरणों को श्रृंखलाओं से जकड़ देना अक्षम हो सकता है, किन्तु एक निर्धारित मार्ग के अनुसरण से उसकी प्रगति को नहीं रोका जा सकता।"

रवीन्द्रनाथ ने कहा है- "उन दिनों भारतीय संगीत एक जीवंत शक्ति थी।" गीत के मौलिक उपादानों में प्रगति भी है, जिसका अर्थ है- 'शब्दों की भावात्मक व्यवस्था।'

कोई व्यक्ति भावात्मक प्रभाव को घटाए बिना गीत की क्रियात्मक रचना के साथ स्वच्छंदता नहीं बरत सकता। भारतीय संगीत में तान का वही स्थान है, जो स्त्रियों के लिए आभूषणों का। इसका उपयोग न्याय संगत तथा तक्रसंगत रूप से होना चाहिए, आत्म-प्रशंसा के लिए नहीं। स्पष्ट और प्रकट की अति प्रशंसा करना या विशदीकरण स्वयं सौन्दर्य के विरुद्ध प्रचार है। रवीन्द्रनाथ के साक्ष्य पर कहा जा सकता है, 'वे, जिनमें गीत लिखने का साहस है' वे, जिनमें उन्हें गाने के लिए चातुर्य और समर्पण की भावना है।'

### अन्तर्दृष्टि

रवीन्द्रनाथ भारतीय शास्त्रीय संगीत की अंतर्धाराओं के विषय में एक गहन अंतर्दृष्टि रखते थे। वे भारतीय संगीत के भविष्य, इसकी विकासात्मक प्रक्रियाओं तथा उन साधनों की, जिनके द्वारा वह स्वयं को पुनर्जीवन प्रदान कर सकता था, भविष्यवाणी करने की क्षमता रखते थे। किन्तु सर्वथा नवीन की

सर्जना की एक निर्वन्ध धुन एक आपत्तिजनक प्रवृत्ति हो सकती है, जो अंततः अपने ही प्रयोजन को पराभूत कर देती है। विशुद्ध रचनात्मक कार्य के लिए सर्वथा नावीन्य की यह उन्मत्त प्रवृत्ति विरोधात्मक है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा- “जब मनुष्य की रचनात्मकता का भांडार रिक्त रहता है, तब वह आधुनिकता और परिवर्तन के संबंध में वौखलाता एवं डींग हाँकता है। उसमें प्राचीनता के चपक में ताजी अमृतमयी मदिरा देने की क्षमता नहीं होती। वे तीखी ध्वनियों में चीखकर उधार ली हुई आधुनिकता में अपना विश्वास प्रभावित करने का यत्न करते हैं।” और पुनः “मैं उसे एक ऐसा नवयुवक कह सकता हूँ, जिसकी कल्पनाओं का क्षितिज शाश्वत एवं अनादि प्रत्यूषी रंगों से अनुरंजित है। ऐसा उपाःकाल, जिसके चरणों की लालिमा नए बाजार के कसाईखाने से खरीदे गए रक्त की किसी भी मात्रा से संबंधित नहीं है।

इस प्रकार साठ वर्ष की अवधि में लगभग तीन सहस्र गीत रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा रचे गए थे।

भारतीय संगीत, जो कि शताब्दियों से दूषित एवं अपरिवर्तनशील हो चुका था, पुनः एक बार एक महान् निर्माता की रचनात्मक दानों से उत्पन्न होने वाली गत्यात्मक जीवनधारा से गतिशील हुआ। ठाकुर के द्वारा भारतीय संगीत जीवन के साथ पुनः परमावश्यक संबंध प्राप्त कर सका और उसने अपने आपमें रचनात्मक भविष्य के आश्वासन का अनुभव किया।

रवीन्द्रनाथ का कहना था कि यदि बंगाल के लोग मेरा सम्पूर्ण साहित्य भुला भी देंगे तब भी मेरे गीतों को वे अवश्य याद रखेंगे। उन्हें मेरे गीत गाने ही पड़ेंगे। उन्होंने अपील के रूप में कहा ‘सभी गीत मेरे गीतों के निकट हैं।’ भविष्य की पीढ़ी से मेरी यही प्रार्थना है कि मनुष्य को आनन्द देने वाले संगीत को हमेशा सुरक्षित रखा जाय और यही हमारा कर्तव्य भी है।

### संदर्भ सूची :

1. वसन्त विशारद
2. गर्ग लक्ष्मी नारायण निबंध संगीत

# अध्यात्मिक नादानुसांधान और संगीत नाद

किशोर कुमार पोद्दार

ईश्वर की भक्ति में सातवीं भक्ति आन्तरिक नाद अभ्यास को माना गया है। यहाँ केवल मन ही रहता है, बह्य इन्द्रियाँ नहीं रहती है। नाद साधना से अत्यंत शांति प्राप्त होता है। इससे चंचलता कोशों दूर चला जाता है।

नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः  
परः नानुसंधेः परा पूना नहि तृप्तेः परे सुष्वम् ॥  
20.01.211

नाद से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है, अपनी आत्मा से बढ़कर कोई देवता नहीं है। नाद की खोज से बढ़कर कोई पूजा नहीं है तथा तृप्ति से बढ़कर कोई सुख नहीं है।

न नाद सदृशो लयः (शिव संहिता)

अर्थात् नाद से बढ़कर या सदृश्य कोई लय नहीं है।

उसी प्रकार नादविन्दू उपनिषद् में है -

मनोमत्त गजेन्द्रस्य विषयोधानचारिणः  
नियामन समथोऽयं निनादो निशितांकुशः  
1144.11

नादोऽन्तरंग सारंग बन्धने वागुशयते।

अंतरंग समुद्रस्य रोधे-वेलायते ऽधि वा  
1145 (1)

अर्थात् नाद मदमस्त हाथी रूपी चित्त को जो विषयों के आनंद-वाटिका में विचरण करता है, रोकने के लिए तीव्र अंकुश का काम करता है। समुद्र-तट का काम करता है। मृग रूपी चित्त को बाँधने के लिए यह (नाद) जाल का काम करता है। इसलिए

संतों ने नाद-साधना पर अधिक जोर दिया है। लेकर नाद साधना तभी संभव हैं, जब भीतर में प्रवेश करने का कुछ न कुछ अभ्यास प्राप्त हो जाय। नाद, साधना शब्द साधना को भी कहते हैं। इसमें केवल वृत्ति लगाकर रहते हैं। यही सम का साधन है। सम का अर्थ समता होता है। विना सम के साधन किये समता नहीं हो सकती है। समत्व को ही योग कहा जाता है। यह समत्व, समाधि में ही प्राप्त हो सकता है। गीता में कहा गया है- जहाँ मनोनिग्रह नहीं है वहाँ समत्व कैसे हो सकता है।

नादानुसंधान से मन का पूरा सिमटाव होता है। यह सिमटाव इतना अधिक होता है कि मन-मन नहीं केवल सूरत रह जाता है। वही उस नाद को सुन पाता है। शब्द को पकड़ने से या उससे पकड़ा जाने पर वह उस ओर खिंच जाता है। जैसे लोहा चुम्बक से पकड़ा जाता है। चुम्बक की ओर खींच जाता है। चुम्बक से लोहे को छुड़ाया भी जा सकता है। किन्तु इस नाद से चेतन आत्मा के पकड़े जाने पर उसको कोई छुड़ा नहीं सकता है।

इसलिए कहा गया है -

“झिन-झिन जन्तर निस दिन बाजै।  
जन जादिम पचिहारा ॥”

साधन वास्तविक में नादानुसंधान तक ही माना जाएगा।

मैंने यहाँ नादानुसंधान और संगीत नाद की चर्चा की है। वास्तव में नाद को भव सागर से पार लगाने वाला माना जाता है। यह हम जानते हैं कि दोनों नाद आहत और अनाहत पिंड में प्रगट होत है।

आहत नाद संगीत उपयोगी माना जाता है। एक सिद्ध संगीतज्ञ आहत नाद से ही पूरे मन का सिमटाव कर संसारिक विषयों से दूर कर लेता है। यद्यपि अनाहत नाद को ही मुक्ति प्रदान करने वाला माना जाता है। फिर भी आहत नाद को भी भव-सागर से पार लगाने वाला माना जा सकता है। संगीत दर्पण में दामोदर पंडित से कहा है -

स नादस्त्वाहतो लोके रैजको भव भंजकः ।  
श्रुत्यादि द्वारतस्तस्मात्त्वदुत्पत्ति निरूप्यते ॥

अर्थात् आहत नाद भी व्यवहार में श्रुति आदि से खाक बनकर भव भंजक बन जाता है। हम जानते हैं कि इसी नाद के माध्यम से ही सूर, मीरा ने प्रभु सान्निध्य प्राप्त किया था। फिर अनाहत की साधना से मुक्ति प्राप्त किया था। हमलोग सभी जानते हैं कि रामचरित मानस में तुलसी दास ने नवधा भक्ति में छठी भक्ति इन्द्रिय निग्रह को माना है।

“छठ दम सील विरति बहु करमा ।  
निरत निरन्तर सज्जन धरमा ॥”

चेतन अवस्था में इन्द्रियाँ विषयों की ओर चलती हैं। मन की धारा इस ओर रहने से मन 'विषयों' में लिप्त रहता है। मन की धारा का केन्द्र आज्ञा चक्र में माना जाता है। आज्ञाचक्र को छठा चक्र कहते हैं, इसके नीचे सात चक्र हैं। आज्ञा चक्र के मध्य से शिवनेत्र कहते हैं यहीं मन का दास है। चेतन अवस्था में इसका वास नेत्र में, स्वप्न में, कण्ठ में, सुषुप्ति में, हृदय में और तुटीयावस्था में मस्तक में होता है।

मन को वश में करने के लिए आध्यात्मिक गुरु अपने को आज्ञा चक्र में स्थिर रहने के लिए बताते हैं।

उसी तरह एक योग्य संगीत साधक संगीत साधना में लीन रहता है तो वह स्वयं को आज्ञाचक्र में स्थिर रखता है। उसका मन पूर्णतः संसारिक विषयों में हटा रहता है। इस तरह संगीत साधक आध्यात्मिक जीवन अपना कर अपने ध्यान को अधिक सुदृढ़ कर सकता है। अंत में अनाहत नाद की उपासना कर स्वयं को मुक्त कर सकता है।

# राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह की चार (स्वाधीनतापूर्वक एवं स्वतंत्रेत्तर) समस्यामूलक नाट्य कृतियाँ : एक अनुशीलन

चन्दना किरण

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह हिंदी साहित्य के उन विरले साहित्यकारों की श्रेणी में हैं, जिन्होंने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में अपना योगदान दिया है। कहानी, उपन्यास, नाटक निबंध एवं संस्मरण में इनकी लेखनी सतत चलती रही। छात्र-जीवन में ही लिखित 'कानों में कंगना' कहानी से राजाजी की कथा यात्रा शुरू हुई, वह अल्प-काल के लिए विश्राम लेकर जीवन के साठ वर्षों तक निर्बाध गति से चलती रही। अपने भीतर के सृजनकार का परिचय राजा जी ने सर्वप्रथम कविता और कहानियों से कराया लेकिन शीघ्र ही वे उपन्यास एवं कहानियों की ओर मुड़ गए। अपनी सम्पूर्ण साहित्य-यात्रा में राजा साहब ने तकरीबन पच्चीस रचनाएँ लिखी हैं जिसमें सात उपन्यास, पाँच लघु उपन्यास, नौ कहानी संग्रह तथा चार नाटक प्रमुख हैं।

सन् 1912 ई में राजा साहब का 'कुसुमांजलि' कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ। लंबे अंतराल के बाद सन् 1936 ई में राजा साहब का प्रथम उपन्यास 'राम-रहीम' प्रकाशित हुआ। इसके बाद 1938 ई में 'गाँधी-टोपी' और 'सावनी समौं' कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसने साहित्य-क्षेत्र में अच्छी चर्चा पाई। सन् 1939 ई में 'पुरुष और नारी' उपन्यास आया, जिसे कुछ लोग इनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास मानते हैं। तत्पश्चात् 1941 ई में 'टूटा तारा' और 'सुरदास' उपन्यास 1942 ई में सामने आया। सन् 1944 ई में राजा साहब ने बंगाल के अकाल पर एक मार्मिक उपन्यास 'संस्कार' लिखा था जिसमें अकाल का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में राजा साहब ने तुकबंदी के मोह से

खद को मुक्त कर लिया है। स्वाधीनता के उपरांत राजा साहब की कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हुए, जिनमें 'नारी क्या-एक पहेली?', 'हवेली और झोपड़ी', 'देव और दानव', 'वे और हम', 'बिखरे मोती-खंड 1' आदि उल्लेखनीय हैं। उपन्यासों की श्रेणी में 'पूरव और पश्चिम', 'चुंबन और चाँटा', 'माया मिली न राम', 'अपनी-अपनी नजर', 'अपनी-अपनी डगर' श्रेष्ठ हैं।

राजा साहब को अब तक एक कहानीकार एवं उपन्यासकार ही मानकर इनकी रचनाओं का विश्लेषण किया जाता रहा है किंतु इनके नाटक भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों से अलग लेखन-शैली अपनाकर अपनी चिर-परिचित शैली में नाटक भी लिखा। 'नये रिफॉर्मर' राजा साहब का प्रथम नाटक है, जिसकी रचना उन्होंने सन् 1911 ई में अपने गुरु श्री गंगानाथ झा जी के कहने पर की थी। इस नाटक का मंचन युवकों के द्वारा कई स्थानों पर किया गया। इस नाटक के लिए राजा साहब ने काफी प्रशंसा बटोरी। कई वर्षों के बाद राजा साहब ने सन् 1953 ई में अपने मित्र महावीर वावू के आग्रह पर दो नाटक लिखे जिसकी पृष्ठभूमि तत्कालीन समस्याएँ थीं। 'अपना पराया' सन् 1953 ई में तथा 1955 ई में 'धर्म की धूरी' नाटक आया। एक अन्य नाटक 'नजर बदली, बदल गये नजारे' सन् 1961 ई में प्रकाशित हुआ। इनके नाटकों की संक्षिप्त चर्चा निम्नांकित है :-

1. नये रिफॉर्मर (1911 ई ) :- राजा साहब का पहला नाटक 'नये रिफॉर्मर' सन् 1911 ई में लिखा गया है। यह एक लघु नाटक है। इस नाटक

में उस समय पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से जीवन-पद्धति में आ रहे परिवर्तनों को व्यंगात्मक स्पर्श दिया गया है। एक रूढ़िवादी अशिक्षित सेठ का पुत्र पढ़ने के लिए शहर जाता है तो वहाँ शराब पीने लगता है, अंडे खाता है, पैन्ट-हेट पहनता है, रहन-सहन में परंपरागत नियमों को नहीं मानता और कहता है कि उसे सोसाइटी में बहुत रिफॉर्म करना है। 'काले आदमियों को गोरे होने की धुन समाई है', 'नौकर को मुँह लगाना बहुत बुरा है', मगर अंडे और विस्की को मुँह लगाना बहुत अच्छा है आदि टिप्पणियाँ ध्यान आकृष्ट करती हैं। एक पात्र कहता है, 'मैं तो इंतजार में हूँ कि जब बीबी हामिला हो, उसे इंग्लैंड ले जाऊँ ताकि ब्रिटिश बॉन सब्जेक्ट लड़का पैदा हो, वहीं ऑक्सफोर्ड में उसको एजुकेशन दूँगा।' इस तरह की व्यंगात्मक टिप्पणियों तथा संवादों से हास्य उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है।

2. धर्म की धूरी (1953 ई)—यह नाटक पूरी तरह से साम्प्रदायिकता के प्रश्न पर केन्द्रित है। सन् 1947 ई के दंगों की पृष्ठभूमि पर लिखित इस नाटक में कहा गया है कि समत्व और एकता की दृष्टि ही 'धर्म की धूरी' है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करता, व्यापक लोक-मंगल की प्रेरणा से कार्य करता है। जो अपने संप्रदाय और वर्ग के बाहर के लोगों का भी हित नहीं देखता, वह सच्चा मजहबी नहीं है - "आज तो जो सबका नहीं, वह अपने स्व का नहीं, अपने मजहब का भी नहीं।" संकीर्ण दृष्टि वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के लोगों को इसमें चित्रित किया गया है और दिखलाया गया है कि किस प्रकार वे दंगे कराते हैं। इनके विरोध में उदार दृष्टिवाले चरित्रों को भी नाटक में प्रस्तुत किया गया है। संतसरन जी ईसा और गाँधी के प्रतीक प्रतीत होते हैं, कट्टरवादियों के दुष्कर्मों को देखकर कहते हैं : "भगवन क्षमा करो, विचारे जानते नहीं कि हम क्या कर रहे हैं।" यही पात्र दूसरी जगह कहता है - 'वह दिल ही क्या जिसमें दर्द न हो और वह आँख ही क्या जिसमें पानी न हो।' देश में हुए साम्प्रदायिक दंगों ने लेखक को गहरे छुआ था, फलतः स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास का वह क्रूर दुःखद अध्याय 'धर्म की धूरी' में रूपान्तरित हो गया है।

3. अपना-पराया (1953 ई)—'अपना-पराया' आजादी की लड़ाई की पृष्ठभूमि पर लिखा गया साम्प्रदायिक सद्भाव एवं एकता का नाटक है। इसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि कौन वास्तव में अपना है कौन पराया। 'देख लिया तुमने? पगले, दिल का रिश्ता रिश्ता है, लहू का रिश्ता तो एक चकमा।' इस नाटक में दिखलाया गया है कि जिस रानी के गर्भ में सुरेश की संतान है उसे जिस भगा ले जाता है और उससे विवाह कर लेता है। जिस बेला के गर्भ में युसुफ की संतान है उसका विवाह विवशता में ही सुरेश से हो जाता है। कालांतर में बेला का पुत्र रनवीर ही सुरेश के काम आता है, उसकी रक्षा के लिए अपने प्राण दे देता है, जबकि रानी के गर्भ से जन्मा गुलाब सुरेश की इज्जत उतारने पर तैयार हो जाता है। इस गुलाब को सुरेश और उसके पूरे परिवार ने बहुत स्नेह दिया था, हर तरह की सहायता की थी, पर वह विश्वासघाती निकलता है। नाटक गाँधीवादी चेतना और आदर्श से प्रेरित एवं प्रभावित है और इसमें सांप्रदायिक एकता का भी संदेश दिया गया है। राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी राजा साहब की यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है। नाटक में गाँधीजी के सत्य, प्रेम और अहिंसा के आदर्शों में आस्था प्रकट की गई है और उनके सत्याग्रह आंदोलन में शामिल होने वाले अनेक पात्र इसमें आये हैं।

4. नजर बदली, बदल गये नजारे (1961 ई.)—स्वाधीनता प्राप्ति के बाद नयी करवटें लेते हुए देश के लोगों की दशा-दिशा चित्रित करने वाला यह नाटक है। गणतंत्र का जन्म हुआ, चुनावों के माध्यम से प्रजातांत्रिक सरकारों का बनना शुरू हुआ, जब तक उपेक्षित-दलित-उत्पीड़ित वर्ग को सुविधाएँ मिलने लगी, अधिकार मिलने लगा, वे भी सत्ता में आने लगे। जमींदारी समाप्त हुई और उसके फलस्वरूप एक सुविधाभोगी वर्ग का महत्त्व कम हुआ। ये सारी बातें नाटक में आई हैं, पर यह मुख्यतः जमींदारी-उन्मूलन और हरिजनोत्थान से उत्पन्न स्थितियों एवं जीवन-संबंधों पर आधारित है। जिस चमार देवराम को जमींदार रायबहादुर ठाकुर, उनका दीवान, पुजारी सब मिलकर अपमानित करते हैं, उसी देवराम के मुखिया बनते ही सब उसका जय

करने लगते हैं। “हमारे लीडर ही नहीं, हमारे सुख दुःख के अभिन्न सहचर भी हैं-हमारे दिलबर भी हैं और रहबर भी” आदि का व्यवहार कभी किसी ने ठाकुर साहब के लिए किया था, वही व्यवहार अब ठाकुर साहब हरिजन मंत्री के लिए करने लगते हैं। जो कवि और कलाकार कभी ठाकुर साहब की प्रशस्ति गाते थे, अब मंत्री जी की प्रशस्ति गाते हैं। समाज के परंपरागत संबंध पूरी तरह से बदल गये हैं। नाटक के अंत में एक रंगीला युवक गाता है - ‘नजरें बदल गईं तो नजारे बदल गये।’

इस नाटक में राजा साहब ने बदली हुई नजरों को भी दिखलाया है और बदले हुए नजारे को भी। हमारे सम-सामयिक राजनीतिक-सामाजिक परिवेश में ‘नजर बदली, बदल गये नजारे’ विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।

राजा साहब के सभी नाटक अपनी चेतना एवं सहृदयता के कारण प्रशंसनीय हैं। शिल्प की दृष्टि से देखने पर लगता है कि कथाकार की कला ही इन नाटकों में भी चली आई है। सभी नाटकों में संवादों के माध्यम से दीर्घकालीन कहानियाँ कही गई हैं। ‘अपना-पराया’ में कुल सात दृश्य हैं, ‘धर्म की धुरी’ में नौ दृश्य हैं और ‘नजर बदली, बदल गये नजारे’ में ग्यारह दृश्य हैं। अनेक दृश्यों में होने के कारण कोई नाटक दोषपूर्ण नहीं होता, बशर्ते वह किसी नाटकीय स्थिति पर आधारित हो, उसमें नाटकीयता और गतिशीलता बनी रहे। इनके नाटकों में दृश्यों की अनेकता का उपयोग विभिन्न स्थानों और समय में फैले कथा-प्रसंगों को प्रस्तुत करने के लिए किया है। कथानक आराम से धीरे-धीरे आगे बढ़ता है - राजनीति, धर्म, समाज आदि से जुड़े महत्त्वपूर्ण विषयों पर बहसें होती जाती हैं; जगह-जगह गीत आते हैं, बड़े-बड़े संवाद, शेरों-शायरी एवं किस्से भी आते हैं। इन नाटकों में कथानक कहानी की शैली में धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं। बहसें भी प्रायः नाटकों में हैं, ‘धर्म की धुरी’ में विशेष रूप से कथानकों का सहज विकास हुआ है - सहृदयता का आग्रह ही कुछ ऐसा है कि एक निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए कथानकों को उद्देश्य-सिद्धि की दृष्टि से गढ़ा गया है। ऐसे कथानक में मानवीय-चरित्र नहीं आये, तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहना चाहिए - चरित्र इसलिए

आए हैं कि रचनाकार के कथ्य या स्थापना को सिद्ध कर सकें।

गढ़े हुए कथानक और वर्ग चरित्रों के बावजूद यदि इन रचनाओं में आकर्षण बना रहता है, तो राजा साहब की अपनी विशिष्ट भाषाशैली और कहानी कहने के ढंग के कारण। कहानी कहने की राजा साहब की अपनी शैली है, वाक्यों की एक विशेष प्रकार की बनावट, स्थान-स्थान पर तुकान्त वाक्य और अनुप्रास, उपयुक्त स्थान पर शेरों-शायरी का प्रयोग, बात कहने की चुभती हुई शैली। राजा साहब ने अपने नाटकों में सूक्तियों का भी भरपूर प्रयोग किया है --

1. जो मजहब का बनता है, वह अपने रसूल का नहीं, अपने रब का नहीं। या, समाज की आँख में पानी चाहे न हो, पर भगवान की आँख का पानी तो ढलने से रहा (धर्म की धुरी)।

2. जी की हार तो जिन्दगी की हार ठहरी। या, प्यार अगर इश्तहार पर आ गया तो वह तमाशा हो गया, दिल का तकाजा नहीं। या, जवानी गई, जिन्दगी गई (अपना-पराया)।

3. मीने की परी से भी कहीं नशीली अफसरी की अंगूरी है। या, अंगूरी के नशे से भी दस गुणा होता है अफसरी का नशा (नजर बदली, बदल गये नजारे)।

स्पष्टतः राजा साहब की अपनी विशिष्ट शैली के कारण इन रचनाओं में रोचकता बनी रहती है। ‘नये रिफॉर्मर’ का मंचन कई स्थानों पर नवयुवकों के द्वारा किया गया था किंतु शेष तीन नाटकों के मंचन के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। वैसे यदि इनका मंचन न भी हुआ हो तो भी इनका महत्त्व कम नहीं होता है। प्रेमचंद ने कहीं लिखा था, ‘झामे दो किस्म के होते हैं। एक सिर्फ पढ़ने के लिए, एक स्टेज के लिए।’ पढ़ने के लिए लिखे गये नाटकों की एक दीर्घ परंपरा हिन्दी में रही है, जिसमें मंचीय गुणों का अभाव रहता है। राजा साहब के नाटक इस परंपरा को समृद्ध करते हैं। ये नाटक हमारी राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करते हैं और हमें कथात्मक आनंद देते हैं, ये कम महत्त्व की बात नहीं है।

# भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्यांगों का अवलोकन

अभय शंकर

सललिताभिनयैः समलङ्कता, रुचिर भारत  
संस्कृतभूषिता।

स्मृतिपुराणविचारविभाविता, जयति संस्कृत  
नाटकमंजुता।।

दशरूपानुकारेण यस्य माघन्ति भावकाः।

नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च।

संस्कृत साहित्य में नाटकों की अपनी एक विशिष्ट परंपरा रही है। भारतीय साहित्य की विभिन्न विचार-वीथियों में लोकप्रियता की दृष्टि से नाटकों का पहला स्थान है। वैदिक युग में नाट्यकला के अस्तित्व के संबंध में हमें पर्याप्त सामग्री मिलती है। यजुर्वेद की वाजसनेयीसंहिता के एक प्रसंग से अवगत होता है कि वैदिक युग में शैलूष नामक जाति के लोग व्यावसायिक रूप से नाटकों का आयोजन कर जीविकोपार्जन किया करते थे। यज्ञ के अवसरों पर नृत्य-गीतादि के लिए सूत और शैलूष लोगों की नियुक्ति की जाती थी, जो कि नृत्य एवं संगीत द्वारा नाट्याभिनय करते थे।

नाट्यशास्त्रकार के रूप में महामुनि भरत का व्यक्तित्व साहित्यशास्त्रकाश में एक देदीप्यमान दिनमणि की भांति प्रकाशित है। भरत का नाट्यशास्त्र अपने विषय का पहला सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र के अनुसार इसके प्रवक्ता ब्रह्मा हैं तथा इसके प्रयोक्ता भरत हैं। इसकी श्लोक संख्या 6000 है तथा इसमें कुल 36 अध्याय हैं।

नाट्यांग :-

नाट्यशास्त्र में नाट्य के ग्यारह अंगों का उल्लेख है- रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्तियाँ, सिद्धि, स्वर, वाद्य, गान और रंग -

रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः।

सिद्धिः स्वरास्तथा तोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः।।

प्रस्तुत कारिका में नाट्य के ग्यारह अंगों का 'उद्देश्य' रूप से कथन किया गया है। यह भरतमुनि का अपना मत नहीं है, अपितु प्राचीन नाट्याचार्य 'कोहल' का मत है। भरत मत में आंगिक वाचिक तथा आहार्य तीन प्रकार का अभिनय, गान तथा वाद्य- ये सब मिलकर नाट्य के केवल पाँच अंग ही अभिमत हैं। किन्तु यहाँ कोहल के अभिमत ग्यारह अंगों का संग्रह किया गया है। संक्षेप में इनका विवेचन है -

1. रस- रस आठ माने गये हैं - 1. शृंगार, 2. हास्य, 3. करुण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. वीभत्स और 8. अद्भुत -

शृङ्गार हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः।

वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रक्षाः स्मृताः।।

2. भाव - भाव पद से आठ स्थायी, आठ सात्त्विक और तैंतीस व्यभिचारि को मिलाकर कुल उनचास भावों का ग्रहण होता है। आठ स्थायी भाव हैं - 1. रति, 2. हास, 3. शोक, 4. क्रोध, 5. उत्साह, 6. भय, 7. जुगुप्सा और 8. विस्मय।

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।  
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिता ॥

आठ सात्त्विक भाव इस प्रकार हैं- 1. स्तम्भ,  
2. स्वेद, 3. रोमांच, 4. स्वरभंग, 5. कम्पन, 6.  
विचर्षता, 7. आंसू आना और 8. मूर्छा-

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।  
वैवर्ष्यमथु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥

तैंतीस व्यभिचारिभाव हैं - 1. निर्वेद, 2. ग्लानि,  
3. शंका, 4. असूया, 5. मद, 6. श्रम, 7. आलस्य,  
8. दैन्य, 9. चिन्ता, 10. मोह, 11. स्मृति, 12. धृति,  
13. लज्जा, 14. चपलता, 15. हर्ष, 16. आवेग, 17.  
जड़ता, 18. गर्व, 19. विषाद, 20. औत्सुक्य, 21.  
निद्रा, 22. अपस्मार, 23. स्वप्न, 24. विवोध, 25.  
अमर्ष, 26. अवहित्या, 27. उग्रता, 28. मति, 29.  
व्याधि, 30. उन्माद, 31. मरण, 32. त्रस, और 33.  
वितक्र ।

3. अभिनय - अभिनय के चार प्रकार माने हैं-

1. आंगिक, 2. वाचिक, 3. आहार्य, और 4. सात्त्विक-  
आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।  
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः ॥

4. धर्मी - धर्मी के दो भेद किए गए हैं- 1.  
लोकधर्मी, और 2. नाट्यधर्मी

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः स्मृतः ।

5. वृत्ति :- भरतमुनि के अनुसार वृत्तियाँ चार  
हैं- भारती, सात्वती, आरभटी और कैशिकी । इन  
वृत्तियों के उद्भव के सम्बन्ध में कई परम्पराएँ हैं ।  
एक परम्परा के अनुसार जिस प्रकार चारों वेदों से  
पाठ्य (संवाद) गीत, अभिनय एवं रस को ग्रहण कर  
भरत ने नाट्यवेद की रचना की, उसी प्रकार चारों  
वेदों से चार वृत्तियाँ उद्भूत हुई । ऋग्वेद से भारती  
वृत्ति, यजुर्वेद से सात्वती वृत्ति, सामवेद से कैशिकी  
वृत्ति और अथर्ववेद से आरभटी वृत्ति उत्पन्न हुई -

ऋग्वेदाद् भारती क्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्वती ।  
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि ॥

दूसरी परम्परा के अनुसार एक बार मदोन्मत्त  
मधु और कैटभ नामक असुरों ने विष्णु को युद्ध क

लिये ललकारा था, तब भगवान विष्णु ने युद्ध में  
अपने पराक्रम से उनका वध किया था । उस समय  
युद्ध करते हुए विष्णु ने वाणी तथा अंगों से जो  
चेष्टाएँ की थीं, उन्हीं से इन वृत्तियों का प्रादुर्भाव  
हुआ । एक अन्य परम्परा के अनुसार भरत ने तीन  
वृत्तियों का प्रयोग तो स्वयं किया, किन्तु कैशिकी  
वृत्ति के प्रयोग की प्रेरणा उन्हें शिव से मिली । एक  
चौथी परम्परा के अनुसार इन वृत्तियों का नामकरण  
प्राचीन जातियों के नाम पर हुआ है । भरत जाति के  
नाम पर भारती वृत्ति, सात्वत जाति के नाम पर  
सात्वती वृत्ति, कैस्पियन सागर के तट पर रहने वाली  
जाति विशेष के नाम पर आरभटी वृत्ति नाम पड़ा ।  
एक अन्य परम्परा के अनुसार ब्रह्मा के चारों मुख  
से चार वृत्तियों के उद्भव की कल्पना की जाती है ।

**भारतीवृत्ति** - भारती वृत्ति वाणी की प्रधानता  
वाली, संस्कृत पाठ से युक्त, पुरुष-पात्रों द्वारा प्रयोज्य  
होती है । यह भरतों द्वारा प्रयुज्य होने के कारण इसे  
भारती कहते हैं-

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता  
संस्कृतवाक्युक्ता ।

स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु  
वृत्तिः ॥

भारती वृत्ति वाग-व्यापारात्मक होने के कारण  
सर्वत्र व्याप्त रहती है । इस वृत्ति के चार प्रकार  
बताये गये हैं- प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन ।

**सात्वती वृत्ति** - सात्वती वृत्ति में वाचिक एवं  
आंगिक चेष्टाओं की प्रधानता होती है । उसमें शोक  
का संहरण और हर्ष का आधिक्य रहता है । इसका  
प्रयोग वीर, अदभूत और रौद्र रसों में विशेष रूप से  
होता है इसमें उद्धत पुरुषों का बाहुल्य रहता है ।  
सात्वती वृत्ति के चार भेद होते हैं- उत्थापक, परिवर्तक,  
संल्लापक और संघात्य ।

या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता  
च ।

हर्षोत्कटा संहतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु  
वृत्तिः ॥

**कैशिकी वृत्ति** - कैशिकी वृत्ति सुकुमार वेपभूषा  
से विचित्र स्त्रियों एवं नृत्य-गीतादि के बाहुल्य से

युक्त स्त्री-पुरुषों की शृंगारिक चेष्टाओं से युक्त शृंगार रसात्मक प्रधान वृत्ति होती है-

या श्लक्ष्णा नेपथ्यविशेषचित्त स्त्रीसंयुता या बहुनृतगीता ।

कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकी वृत्तिमुदाहरति ॥

नाट्यदर्पणकार के अनुसार स्त्रियों की ललित व्यवहार युक्त वृत्ति को कैशिकी वृत्ति कहते हैं। कैशिकी वृत्ति के चार अंग हैं- नर्म, नर्मस्फुंज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ ।

आरभटी वृत्ति - आरभटी वृत्ति में कपट, छल, प्रपंच, दम्भ, भाषण का बाहुल्य रहता है। इसमें माया, इन्द्रजाल, उछलकूद, विचित्र प्रकार के युद्धों का प्रदर्शन होता है-

प्रस्तावपातप्लुतलंघितानि चान्यानि  
मायाकृतमिन्द्रजालम् ।

चित्रणि युक्तानि च यत्र नित्यं तां तादृशीमारभटीं  
वदन्ति ॥

आरभटी वृत्ति में उत्साहपूर्ण योद्धाओं के गुण विद्यमान रहते हैं। नाट्यदर्पण के अनुसार जिस वृत्ति में योद्धाओं या भटों का बाहुल्य रहता है, उसे आरभटी वृत्ति कहते हैं। यह कायिक, वांचिक, मानसिक सभी प्रकार के अभिनयो से सम्पन्न होती है। आरभटी वृत्ति के चार अंग हैं- संक्षिप्त, अवपात, वस्तुत्यापन और संकेट ।

6. प्रवृत्ति - प्रवृत्तियाँ पाँच हैं - 1. आवन्ती, 2. दक्षिणात्या, 3. औडमागधी, 4. पांचाली, और 5. मध्यमा-

आवन्ती दक्षिणात्या च तथा चैवोडमागधी ।

पांचाली मध्यमा चेति विज्ञेयास्तु प्रवृत्तयः ॥

7. सिद्धि - सिद्धि दो प्रकार की होती है- देविकी और मानुषी-

दैविकी मानुषी चैव सिद्धिः स्याद् द्विविधैव तु ।

8. स्वर- शरीर से उच्चारण किए जाने वाले शारीर, तथा बांसुरी आदि वाद्यों से निकलने वाले वैणस्वर, षड्जादि सात प्रकार के होते हैं। इनके नाम हैं- 1. निषाद, 2. ऋषभ, 3. गांधार, 4. मध्यम, 5. धैवत, 6. पंचम और 7. धैवत-

शारीराश्चैव वैणाश्च सप्त षड्जादयः स्वराः ।  
निषादर्यभगान्धारमध्यपंचमधैवताः ।

9. वाद्य - वीणा सितार आदि के समान फँस हुए तंत; मृदंग, ढोलक आदि के समान मर्द जाने वाले अवनद्ध; घण्टा, घड़ियाल आदि के समान टोष घन तथा बांसुरी आदि के समान छिद्रयुक्त सुषिर, लक्षणों से युक्त उत्तम श्रेणी के चार प्रकार के वाद्य माने जाते हैं -

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च ।

चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ॥

10. गान - गान पाँच तरह का होता है- ध्रुवा (टेक) से युक्त- 1. प्रवेशक, 2. आक्षेपक, 3. निष्कामक, 4. प्रासादिक, और 5. आन्तर-

प्रवेशाक्षेपनिष्कामप्रासादिकमधान्तरम् ।

गानं पंचविधं ज्ञेयं ध्रुवायोगसमन्वितम् ॥

11. रंग - वर्गाकार, आयताकार, त्रिभुजाकार- ये तीन प्रकार का रंग कहा जाता है-

चतुरस्रे विकृष्टश्च रंगस्त्रयस्त्रश्च कीर्तितः ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन ग्रंथों में नाट्यांगों का अत्यंत सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया है। नाट्य के संपूर्ण अंगों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है।

संदर्भ सूची :

1. घोष मनमोहन नाट्यशास्त्र
2. Vatsayayan Kapila. The Nāṭyaśāstra. Bharat
3. Madhav Mani, Nāṭyakalpadrum
4. नाट्यशास्त्र- श्री सतगुरु पद्मिनीशंकर

# मिथिला के भगैत-गहबर गीत परम्परा

प्रेम कुमारी

लोक साहित्य में मिथिला का अपना वैशिष्ट्य विद्यमान रहता है। लोकसाहित्य के माध्यम से लोकगाथा विभिन्न परम्पराओं को मिथिला में प्रदर्शित करते हैं। मिथिला में लोक गायन शैली में देवराधना की एक ग्राम्य परंपरा है भगैत-गहबर गीत। यह आस्थापरक गीत विरासत के रूप में लोककंठ में सुरक्षित है। यह पिछड़े समाज के खास देवी देवता की गुहार, भगतई और अराधना की गायन शैली है। भगैत गहबर गीत परंपरा से आज तक लोककंठ में विराजमान है। भगैत गहबर गीत लोक संस्कृति की परंपरागत धारा को अक्षुण्ण रखने का एक सशक्त माध्यम है। मिथिला के गांव घर में लोक देवता के सील को 'गहबर' अथवा 'थान' कहा जाता है, जहां मांगलिक अथवा वार्षिक पूजा का आयोजन होता है। गांव घर में गहबर को लोक आस्था का केन्द्र माना गया है।

मिथिला में भगैत का आयोजन किसी भी मनोकामना पूर्ति के लिए या मनौती स्वरूप किया जाता है। इसमें एक मुख्य गायक होता है जिसे पंजियार या पनियार कहते हैं। ये पंजियार या भगैत परंपरा से आज तक अपने देवी-देवता के अराधना करता आ रहा है। लोकसम्मत विधि-विधान से एवं भक्ति भाव से इन देवी-देवताओं का पूजा अर्चना किया जाता है। भगैत अपने अराध्य देव को रिझाने के लिए आह्वान करता है। उनके पीछे दस-बारह गायकों की मंडली होती है जो इनके साथ स्वर भरते हैं। इन गीतों की विषय वस्तु व्यक्ति, परिवार और समाज में फैली रोग-व्याधि से छुटकारा, गुहार, सुहाग

को रक्षा, पुत्र की रक्षा के साथ-साथ शांति और मंगल कामना की प्राप्ति होता है।

भगैत गहबर गीत में कुछ पात्रों को देवी देवता के रूप में इंगित कर गीत गाया जाता है। इन गीतों में क्षेत्र-विशेष और गायक विशेष का प्रभाव पड़ता है। मिथिला में विभिन्न जाति के लोग निवास करते हैं जिसमें अधिकांश जाति के अपने अपने देवता होता है। भगैत गहबर गीत की परंपरा ब्राह्मणवादी व्यवस्था को नकारती हुई लोक भाषा और सहज एवं सरल शैली में लोक देवी देवता का आह्वान किया जाता है। ये गीत श्रमजीवी जातियों में ज्यादा प्रचलित है। ये श्रमजीवी जाति के लोग वार्षिक पूजा के अवसर पर जैसे राजा सलहेश की पूजा होती है। इसमें दस-बारह गायकों की मंडली में कुछ वाद्य का भी प्रयोग करते हैं जैसे-झाल, मंजीरा, खंजरी, काठ की दुमकी, हारमोनियम एवं ढोल। इन साज एवं वाद्य के साथ गायक सामवेद स्वर में समूह गायन के साथ स्वर मिलाते हैं जो आनन्ददायक और मनोरंजक होता है। इसमें भगैत अपना भाव-भंगिमा प्रकट करते हैं और मंडली के बीच ढोल के थाप पर नाचते हैं। लोक देवता सलहेश गहबर में पूजा विभिन्न अवसर पर किया जाता है। सलहेश देवता को श्रमजीवी जातियों में राजाजी भी कहा जाता है। इस पूजा में एक 'भगैत', 'भगतियां' अथवा 'भगता' रहता है जो अधिकांशतः दूसाध जाति से चुना जाता है। पूजा के समय भगता अर्द्धनग्न रहता है। ये लाल रंग के जंधिया पहने रहते हैं जिसमें धुंधरू लगा

रहता है। उनके गर्दन में अड़हुल फुल के माला एव हाथ में बेंत रहता है। पूजा गहबर के आगे किया जाता है।

मिथिला में भगैत गहबर गीत में राजा सलहेशजी का पूजा बहुत प्रचलित है। इस पूजा में गहबर के सामने भगैत (भजन) मृदंग के ताल पर गाते हैं। इस प्रकार गहबर गीत आस्थापरक गीत विरासत के रूप में लोककंठ में सुरक्षित है लेकिन जैसे-जैसे हम वैज्ञानिक दृष्टि से समुन्नत और सभ्य होते जा रहे हैं, लोकसंस्कृति हमसे दूर होती चली जा रही है। नयी पीढ़ी दृश्य माध्यमों की पॉप संस्कृति में रचती-बसती जा रही है, जिस तरह अपनी लोक-भाषा, लोकरंग और लोक प्रतिश्रुतियों को भुलती जा रही है, उससे लोक संस्कृति के तिरोहित हो जाने का संशय गंहराने लगा है। भगैत गहबर गीत परंपरा भी इस प्रभाव से अछुता नहीं है। भगैत गहबर गीत परंपरा में आई कमी से भगैत के गीत के भी लुप्त होने की संभावना बढ़ गई है।

ऐसी परिस्थिति में भगैत गहबर गीत परंपरा जो विलुप्त होने के कगार पर है इनके सांगीतिक अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है। भगैत गहबर गीत लोक संस्कृति जातिय स्मृतियों का एक प्रामाणिक साक्ष्य है। लोकगीतों के माध्यम से किसी भी समाज की सांस्कृतिक अवधारणा का दिग्दर्शन होता है इसलिए राष्ट्र की मौजूदा परिस्थिति में हमें इस बात की चिंता मुख्य रूप से सताती है कि मानवता की रक्षा कैसे की जाए। इसके लिए आवश्यक है कि क्षेत्रीय संस्कृति के जीवनदायी तत्वों की सुरक्षा की जाए।

### संदर्भ सूची :

1. श्रीवास्तव पूर्णिमा, लोकगीतों में समाज
2. शर्मा पुष्पा, लोकगीतों में नाद-सौन्दर्य
3. उपाध्याय डॉ. कृष्णदेव, हिन्दी प्रदेश के लोकगीत

# The Contribution of Samveda to Indian Classical Music

Dr. Supriya Shah

## Introduction

The very origins of the musical tradition in India can be traced back to the vedic times. The four main Vedas are the Rig Veda, the Yajurveda, the Sama Veda and the Atharva Veda. Of these, the Sama Veda is known to all as the originator of several musical concepts that we all are familiar with today. Of course, these concepts did not exist in their present day forms in the times of the Sama Veda, but their roots can be traced back to this Veda.

## What is Sama

If one were to explore the philology of the word Sama, one would find that the word Sama comes from the Sanskrit root Sam which means to be 'on the level' or 'in unison'. The word Sama also means 'Song'. This word can also be compared with some other terms found in other languages as well. "The liturgical music in Hebrew is Samaa. In Arabic also, the word Samaa is used. In Hebrew and Greek, the word 'Samaa' means to listen. The English term for spiritual hymns is 'Psalm'." Thus we find that the word Sama and its variations are found in several languages to connote liturgical

music of the ancient cultures. If one were to look into the philosophical aspect of Sama, one would find that it is indicative of the primordial sound of Brahma.<sup>2</sup> It is regarded as synonymous with music.

## The Sama Veda and the Sama Samhita

The Sama Veda is linked to music through yajna<sup>3</sup>. The ritualistic music in the Vedic period was referred to as Sama. It was customary to invoke and invite deities by singing their hymns. The Rig Vedic mantras that were chosen to be sung were compiled into what came to be known as the Sama Samhita. The word Sama can be understood as SA (rik) and AMA (various notes) (Brihad Up: 1-3-22).<sup>4</sup> as is stated "Ya rik Tat sama" in the Chhandogya Upanishad (1.3.4)<sup>5</sup> or "Rk adyudham Sama"<sup>6</sup> The Sama Samhita is also known as Archika meaning that which is linked to the rig vedic richas. It is therefore not wrong to say that the Sama took *maatu* (words) from Rig Veda; and provided *dhatu* the musical substance to those words. The Sama Samhita has two parts. The first part is called Sama – Yoni (adhara) mantra Samhita, meaning that it

is the basic text. This segment contains the selected mantras as they appear in the Rig Veda. This, virtually, is the source book. The second segment called Sama – gana text, details how the selected mantras are to be sung. This is the text for singing; expanding each mantra of the first segment with notations. This is the Sama Veda as it is generally understood and sung.

### Sama-gana

As regards the styles of singing, Patanjali says that there were a thousand ways of singing of Sama “*sahasravartma samvedah*”. That might be just a poetic way of saying there were many styles of singing Sama. Of these, only three recensions viz. Kauthumiya, Ranayaniya and Jaiminiya have survived. The Kauthumiya and Ranayaniya carry the same set of mantras; but they are grouped differently and there are variations in svaras (accent) too. The Jaiminiya is said to be different from the other two, in both the aspects.

### The Contribution of Sama Veda

The contribution of Sama Veda to Indian Classical Music can be analysed on five counts viz.

1. Musical Scale
2. Basis of the Murchhanas
3. Origins of Talas or Rhythmic aspect
4. System of Notation
5. Roots of Aesthetics

#### (1) Musical scale

The very origins of a musical scale can be traced back to the Sama Veda beginning from the Archika, wherein the chanting was done with one note or svara (referred to as Yama in those times). For example, Om chanting or chanting of

mantara for jap or in havans done on one note only. This note was known as Udatta. Gathas were sung with two notes and these were sung in praise of the deity. This second stage when two notes began to be used came to be known the Gathika. The Samika pertained to singing with three notes. It is believed that these three notes were Ga, re, Sa. Later on another note was added which was Nishad. This stage was called Swarantara. Different interpretations of the words Smaika and Swarantar can be found in the Sangeet ratnakar, the Naradiya Shiksha and the commentaries of Kallinath and Simha Bhupala. Two more notes were added in the next stage of development of the musical scale in the Vedic times. These were the Mandra, meaning low and the Atisvariya meaning the limit. The seventh note that was discovered eventually was the Krushta which means “loud” or “prominent”. This was the madhyam which was perhaps used as a grace note to gandhar. The Sama scale was a descending one beginning with Madhyama and going all the way down to pancham. The notes of the Sama Scale were as follows:

Krushta (Ma), Pratham (Ga), Dwitiya (re) Tritiya (Sa), Chaaturtha (Ni), mandra (Dha), and Atisvariya (Pa).

The very fact that some of the names of the notes are numerals and the rest are descriptive terms suggesting the actual pitches of the notes points to the fact that the development of the Sama scale also took place in two stages.

The Sama Scale was a descending one. This is because, as A.H. Fox Strangways puts it, “the telling notes of the voice are in the upper register and hence present themselves better as the starting point for a scale”.<sup>7</sup> This also

indicates that the Sama scale was based not on the Venu, as believed by some scholars but on the Gatra veena or the human voice. The present day Kafi That or the Kharaharpriya mela of the South are believed to be the modern counterparts of the ancient grama of the Sama veda.

The Sama music was sung in three registers called the *Mandra*, *Madhyama* and *Uttama*. Dr. Lalmani Mishra remarks "In those times there were no microphones or loudspeakers. Sam was sung in large, wide, open or canopied spaces, with the intention that all present should be able to hear it. In such a condition if the song has notes M G R S D ( as in Sama) it would be audible at best in a single room, but if the notes, S N D P G starting from Târ-saptak are sung they would be loud enough for all to hear. So, from this angle of usage too, S N D P G seems more appropriate than M G R S D."<sup>8</sup>

## (2) Murchhana System

The note with which a hymn was sung was known as the arambhak swara. All the other notes were sung in relation to the arambhak swara. This way of singing in relation to a different arambhak swar each time became the basis of the murchana system that was to follow in the times to come. It was on this basis that the evolution of the Jatis took place and the ragas came into being. Prof. Krishna Rao Ganesh Mule has analysed and the whole concept of getting different scales by shifting the different arambhak swaras and deduced scales similar to the the present day scales.<sup>9</sup>

## (3) Origins of Tala or Rhythmic Aspect

In the Sam veda, we can find that there was a clear understanding of the concept

of Laya or rhythm. Even though there was not a full fledged system of tala, there was usage of different metres (*chhandas*) and three different types of laya viz. *Hrisva* (1 matara) , *Dirgha* (two matras) and *Pluta*(three matras). As Dr. N.Ramanathan, a noted musicologist remarked, "Sama music was to acquire the rhythmic-time- patterns. That is, the *taala* system was also yet to evolve".<sup>10</sup>

## (4) System of Notation

Be it the practice of writing numbers on top of the mantra syllables or ascribing each note the fingers of the right hand, the Sama Veda bears testament to the earliest attempts of notating music. The practice of denoting the swaras on the hand (Gatra Vina) was also later found in Babylonia, Syria, Egypt, Greece and so on. This came to be known as Cheironomy in Greece in which the 5 lines in the hand were used to denote the notes. It is quite possible that this cheironomic notation formed the basis of the Staff notation of western classical music. It is thus not without reason that it is mentioned in Encyclopedia Britannica that "it is probable that the earliest attempts at notation were made by the Hindus and the Chinese from whom the principle was transferred to Greece".<sup>11</sup>

## (5) Aesthetics in the Sama Veda

The seeds of the Indian classical aesthetics germinated in the rich soil of the Sama veda. This becomes clear on the analysis of what was known as *Shruti Jaati* in those times. This concept was all about intoning the swaras emotionally. There were five types of *Shruti jaatis* called *Dipta*, *Ayata*, *Karuna*, *Mridu* and *Madhya*. While symbols to connote the first three can be found, the last two did not have

any symbols indicating the fact that these were so popular and commonly used that they perhaps did not require a symbol. It is believed that all these Shruti jaatis could be mastered only if learnt in a sampradaya. The names of the Shruti jaatis were indicative of the emotions that were created when they were used.

Another example of the concept of aesthetics in the Sama veda can be seen in the Sama Vikaar. The Rig Vedic Mantras when taken for Sama gana were changed to some extent in order to adapt them to singing. These changes were as follows:

- a. Vikaara: Change in one word e.g. agna changed to Ognai
- b. Vishleshana: A word broken up into parts e.g. Vitaye broken into voi and toyayi Bhanjani in rupakalapti and Laya Baant in Dhrupad)
- c. Vikarsana: lengthening the vowel of the word.(Alap and Tana)
- d. Abhyasa: repetition of a word of the song.
- e. Virama: Pause introduced within a a mantra
- f. Stobha: Meaningless interjectional word introduced in the text. E.g. Hau, auhovaa etc.

## Conclusion

We have seen that in the Sama Veda, the basic elements of many of the present day established concepts of our classical music could be found. During the vedic times different types of instruments were also

in use. Different types of string, wind and percussion instruments have been mentioned in the Rig, yajus and Atharva Vedas. There is also evidence of different players playing these different instruments. Music had also established as a separate profession in this period. Bhumi Dundhubhi, veena and so on were used in Samagaan.

The music prescribed in the Sama Veda had become ripe in the later stages of the vedic period and yet it was still eager to grow and expand both in scope and content. It is for this reason that all scholars give credit to this veda for being the very foundation on which flourished our grand and age old tradition of Classical Music.

## References:

1. M.R. Gautam. The Musical Heritage of India. p.1
2. Dr. Thakur Jaidev Singh. Bharatiya Sangit ka Itihas. p.38
3. <http://ssubbanna.sulekha.com/blog/post/2008/08/music-in-sama-veda.htm>
4. -do-
5. Dr. Thakur Jaidev Singh, Bharatiya Sangit ka Itihas. p. 40
6. M.R. Gautam. The Musical Heritage of India. p.1
7. A.H. fox Strangways, the music of Hindostan. p. 276
8. <http://ssubbanna.sulekha.com/blog/post/2008/08/music-in-sama-veda.htm>
9. Dr. Thakur Jaidev Singh. Bharatiya Sangit ka Itihas. p.71
10. <http://ssubbanna.sulekha.com/blog/post/2008/08/music-in-sama-veda.htm>
11. Encyclopedia Britannica. Part 16. p. 21

# Adibhatla Narayana Dasu—a Multi-Faceted Genius

Dr. Mandapaka Sarada,

Carnatic music is an undercurrent in many art forms like Yakshagana-s, Geyanataka-s, Harikatha-s etc. The pioneer of Harikatha form in Andhra Pradesh, Ajjada Adibhatla Narayana Dasu (1864-1947) enjoys a special place as the 'Architect of Harikatha Sampradaya', and is known as the "Harikatha Pitamaha".

It is very common that the bhagavata-s intersperse bhajan-s, keertana-s, poems, sloka-s etc. in harikatha to win the hearts of the audiences and make their performance attractive. Narayana Dasu gave a great importance to music and composed his harikathas as gana prabandhas. He composed many other compositions also with significant features. This is an attempt to present an outline of his life and bring out the excellence and versatility of his compositions with regard to music.

Narayana dasu was born in 1864 in a village called Ajjada, in Vizianagaram District in Andhra Pradesh. He was one among the 9 children of Venkatacharyulu and Narasamamba. He was named as Suryanarayana and was called Suri. After his decision to take up harikatha as a means to serve God, he added Dasu to his name and henceforth was called Narayana Dasu.

He was a genius and was gifted with phenomenal memory. His father was a great scholar and taught him Sanskrit and many purana-s. Young Suryanarayana imbibed the essence of the epics from his mother. He learnt Telugu from Tatanna, a disciple of his father, and learnt Veda-s from Perayya, another scholar. He mastered Vedanta, Vyakarana sastra and also learnt many languages.

He was sent to Vizianagaram for English education. After Matriculation examination in 1886 he joined F.A. course in Mrs. A.V.N. College, Visakhapatnam. But as his destiny was otherwise, he failed in the examination in 1888 and did not continue his education. He evinced a great interest in music and literature. Though he was not interested in college education and acquiring degrees, he had a genuine thirst for knowledge. He studied many great works in Sanskrit, Telugu and English and acquired abundant knowledge. He also studied Urdu, Arab, Persian literature and attained scholarly knowledge in them.

**Narayana Dasu—as a Musician:** Vasa Sambaih, a great musician of Bobbili happened to listen to young Suri while he was reciting poems from Srimadbhagavatam and Mahabharatam in

different raga-s effortlessly. He took interest in him and asked his mother to send the boy along with him to teach him music. Thus Suryanarayana became a student of Vasa Sambiah but hardly for one month. It is often told by many scholars that this was the only tutelage he underwent and after that he did not learn music anywhere. He acquired a deep knowledge of music by his own efforts.

He developed taste for the veena and Veena Venkataramana Dasu was responsible for it. His acquaintance with Kammiah helped him in achieving laya and he became an expert in laya. He was later called 'laya brahma'. He used to play on the veena in 'sama' and 'vishama' gatis with both hands. He gave veena concerts in many samsthana-s and was duly rewarded.

Narayana Dasu sang with a full-throated voice like the 'Naada' of a conch, with perfect harmony and shruti suddhata; according to the grammar of raga-s and that attracted the audiences. For him, swara kalpana was a sport. His voice was audible even to an assemblage of 5,000 people. Many people used to recollect his popular 'sambho' nadam and appreciate the resonance of his voice.

**Narayana Dasu – as a Harikatha Bhagavatar :** When Narayana Dasu was a student, a harikatha exponent Kuppuswami naidu from Madras came to Vizianagaram and Narayana dasu attended his kathakalakshepam. He was so much impressed and inspired by his performance that on the same day he composed a harikatha entitled Dhruva charitra. He performed it in his close circle and was appreciated. He got confidence that all the artistic talents in him would be blended into one new form to make a special and unique art. He took up this

art form thinking that it would be the best suitable profession for him. He started his career as harikatha bhagavatar at the age of 19 and continued it till the age of 60. In fact he was the architect of harikatha tradition in Andhra region. He introduced kirtanas, dances of bharatanatyam and kuchipudi styles, padhya pathanam (rendering poems in raga-s), literary skills, high standards of music, and nrutya abhinayas, which are known his specialities. There is a saying – music is 'Naada' (musical sound) oriented, literature is 'Pada' (word) oriented and dance is 'Paada' (foot work) oriented. Narayanadasu is called 'aata, paata, maatala meti' i.e. an expert in the above three. The people of his times opined that he was incarnation of Goddess Saraswathi. He called his harikatha-s as 'Yakshagana prabandhas'. He used vaggeyakara mudra for his compositions. But he did not use it for all his compositions. In his harikatha-s 'Yathartha Ramayanam' 'Janaki sapatnam' and Rukmini kalyanam', he used the mudra 'Narayana Dasa'. These three have received a high applause among his harikatha-s. Next to them are 'Dhruva charitra', 'Savitri charitra' and 'Prahlada charitra'. In some compositions he used 'Ragamudra' also.

**Narayana Dasu - as a Composer :** Narayanadasu was innovative by nature and highly individualistic. He loved experimentation and made outstanding contribution to the genre of Harikatha and in turn to music. He proved his individuality and innovative mind in dealing with the raga-s and the tala-s.

Narayanadasu composed 14 harikathas and approximately 1,200 kirtanas for those harikathas. Among them savitri charitramu, janakisapathamu, rukmini kalyanamu and yathartha

ramayanamu are very well known with regard to music

1) **Raga-s used** :- he used the following common ragas like kalyani, kambhoji, sankarabharanam, todi, bhiravi etc. for most of his harikathas. 'Janaki satham' is a complicated one because of the many melakarta raga-s in it. He used 16 sudhdha madhyama raga-s and 19 prati madhyama melakarta-s in it. Many of them are uncommon raga-s like tanarupi, ragavardhini, hatakambari, yagapriya, soolani, varunapriya, mararanjani, dhavalambari, neetimati, sucharitramu, navaneetamu, raghupriya, syamalangi, kosalam, kantamani etc. The janya raga-s he used are kalgada, manjula, nadhanali, megharanjani, bhavani, kaumoda, saradabharanam etc. He used some other rare raga-s like sugatri, tapaswini, chandrikagaula, uttari, vijayaratnakari, chamundi, phaladayaki etc. Only those who have a very high calibre and knowledge of the science of music can sing these raga-s.

2) **Tala-s used** :- Being a veteran of 'laya' he used rare tala-s also along with the common adi, roopaka, chapu, tripata, jhampa tala-s. The rare tala-s are sankirna roopakam, sankirna tripata, chaturasra ata, misra tripata, sankirna ata, trisra ata, misra ata and sankirna dhruva. In addition to the above there is one tala 'ata chapu' in the harikatha 'gajendra moksham'. He introduced one prosodical tala named 'nartaki' in 'Markendeya charitra' and 'Savitri charitra'.

Besides the harikatha-s, Narayana Dasu composed swarajati and ragamalika-s. and varna, Ananda Gajapati, the then Maharaja of Vizianagaram heard them and appreciated his expertise in music. Later the Maharaja appointed him as the Principal of the Music College.

In the inaugural function of 'Akhila Bharata Sangeeta Parishad' held in Madras, Narayana Dasu sang some of his 'swarakshara kritis' and won appreciation of the front rank musicians in the sabha.

The two ragamalika-s composed by Narayana Dasu are considered as monumental works. One is 'Panchamukhi—raga tala prabandha', and the other is 'Dasavidha raga navati kusuma manjari' a'sarva talatmaka pancha jati eka tala prabandha'.

The panchmukhi tala prabandha, is a tala oriented composition, with a length of 1260 letters, which is divisible into pancha jati-s of laghuvu, i.e, Trisra (3), Chaturasra (4), Khanda (5), Misra (7) and Sankirna (9). Narayanadasu, the 'Laya brahma' used to render this item employing all the 5 jati-s simultaneously involving his both hands, both feet and head. This is called 'Tala avadhanam'. Raga-s in it are 45, which are very popular.

Another ragamalika is 'Dasavidha raga Navati Kusuma Manjari'. It contains 90 ragas on the whole. Though this is also a tala prabandha it can be sung in misra jati eka talam. This is a unique and raga oriented composition. He employed 90 raga-s, covering all the scientifically classified 10 categories of raga-s. After the completion of 10 groups of raga-s, the same 90 raga-s are employed in reverse order in the second half of this composition. The following are the ten categories of raga-s.

(A) 9 out of 72 melakartas of sampoorana-sampoorana category (B) 9 ragas of sampoorana – shadava category (C) 9 ragas of shadava – sampoorana category (D) 9 ragas of sampoorana – oudava category (E) 9 ragas of oudava – sampoorana category (F) 9 ragas of suddha

shadava (G) 9 ragas of shadava – oudava  
(H) 9 ragas of oudava – shadava (I) 9  
ragas of suddha oudava (J) 9 ragas of  
vakra murchana.

**Titles and Honours Received by Narayana Dasu:-** Narayana Dasu received a number of titles. To mention a few: 'Andhradesa Bhushanam', 'Sangita Sahitya Sarvabhuma', 'Aata paata maatala meti', 'Srungara Sarvagnya', 'Laya brahma', 'Gayaka vainika sekharā', 'Harikatha pitamaha', 'Haridasa jagadguru' etc.

Narayana Dasu was honoured with 'Brahma Ratham', 'Gajarohanam', 'Gandapenderam', 'Suvarna Ghanta Kankanam', 'Golden anklets' and special ornaments 'Murugulu' from Maharaja of Mysore.

He received appreciation for blending of Carnatic music with Hindustani music. Gurudev Rabindranadh Tagore, Nightingale Sarojini Naidu, Andhra kesari Tanguturi, Hindustani sangita vidushimani Janaki Bai, and other great personalities were highly impressed with his music.

Mysore Maharaja Syamarajendra Wodayar arranged for the recordings of

Narayanadasu on Gramophone plates. A poem in Janjhooti raga, kannada ragam and Bhairavi (Hindustani) tumri were recorded.

As a linguist Narayanadasu wrote several books in Sanskrit. He translated Omar Khayyam's Rubaits into Sanskrit. His Sanskrit work Tarakam contains 300 verses. Many opine that it deserves the Nobel prize. He wrote many books in Telugu like 'jagajyothi', 'na yeruka' etc.

His talent in the 'Tooryatrikam' (vakku, geyam and nrutyam), justifies his place on a high pedestal in the field of music, as a real 'vaaggeyakaara'.

### References:

1. Dayanada Rao, B. ed. Carnatic Music Composers.
2. Lakhmi Narayana. Gundavarapu: NarayanaDarsanam
3. Narayanadas. Adibhatla Yathartha Ramayanamu:
4. Narayanadas. Adibhatla.. Sri Janaki Sapatham
5. Narayanadasu. Adibhatla: Dasavidha raga navatiKusumamanjari
6. Rajanikantha Rao. Balantrapu. Ed Andhra Jaggevakara Charithramu (Trl)

# VIOLIN

## "A world wide Acoustically Complex Instrument"

Dr. Rakesh J. Mahisuri

Today's music world can not live without the Versatile Musical Instrument named VIOLIN. It has an interesting history together with an immaculate artist form. It adorns the performer more than any ornament or garment. Violin made 300 years ago does not differ in original design with the recent one. That shows the perfection of its design both as an expressive instrument of music and a Beautiful object itself.

Main body of violin is constructed with high quality timber, and components are Table, Back, Ribs, Neck, Scroll, Pegs & Peg Box, End pin, Tail Piece, Bridge, Finger Board, Sound Pole(Inside) etc.

All Violin components are joined together with special adhesives and no metal articles (to avoid metallic tone) like nails or screws are used in the joinery.

Four strings namely G.D.A.E. (Indian notes PA, RE, Dha, and Ga, or similar distance MA, Sa, PA & Re) are held between adjuster hooks to pegs passing over bridge in taut condition. The bridge stands a top centre position of the Table.

Violin Table plate is made out of fine quality spruce or pine wood. It is shape in a convex curvature form. Two sound

holes of the shape of English letter "f" are cut on the either side of the bridge premise.

Back plate of violin is made out of seasoned maple with one piece or two pieces joined in centre. The table and back joined together with ribs on the sides and the neck is fixed on to the neck mortise. Inner side of the top table plate, about 200 mm. long and about 4 mm thick wooden strip of pine is fixed along the length of the table adjacent to the sound hole. This is called Bass-Bar.

Just below the right foot of the Bridge a soft wooden STICK (sound pole) of about 6 mm diameter is made to stand joining the table plate and Back plate. And this stick is named sound post. This sound post, bridge and the Bass-Bar play vital role in forming the tone of VIOLIN.

Among the prized characteristics of Violin the most wonderful one is that,

Violin can produce tone very closely resembling the human voice (singing tone) and its potential to play rapid brilliant figuration as well as lyrical melodies.

The performer can create special effect by using various bowing techniques. Glissando, among other techniques

(steadily gliding finger up or down on the string) gives and upward and downward sliding pitch, what we call "Meend" in terms of Indian classical Music. In the western world violin has taken an important place in Orchestral and solo performances from MOZART TO MENUHIN.

In context of Indian classical Music Violin extended us an accompaniment instrument and today we see in South Indian (Karnatak) Music, it has become a principal instrument of accompaniment. South Indian artists mastered the technique of playing Violin by excessive use of "Meend and GAMAK.

In western India Bombay. Pandit Gajananrao Joshi initiated the solo classical music performance on Violin Instrument. A disciple of Pandit Gajananrao Joshi is SHRIDHAR PARSEKAR become the most popular and famous solo Violinist of the country. Shridhar Parsekar evolved his own style and performance to keep the listeners spellbound for hours. Many more violinists emerged in Maharashtra during that period influenced and encouraged by the performance of SHRIDHAR PARSEKAR.

All top most Violin Artist presenting their performance with either GAYAKI-style or GATKARI Style.

In GAYAKI style of violin playing the setting of string G.D.A.E. Reduced in lower PITCH, i.e. (MANDRA SADJA)

SA" (MADRA PANCHAM) "PA", (MADHYA SADJA) SA AND (MADHYA PANCHAM) PA. This reduced string tension made the "Meend" easier and presentation more melodious. Full capacity of fingerboard could be utilized to get three and half octave range.

The principle basic beauty of Indian classical music lies on the serene and dignified presentation of "ALAP" with the help of proper "Meend" work in the lower and middle octave region. This development enhanced the status of Violin in Indian classical music since it could produce exact resemblance to vocal music of all forms.

The "GAYAKI STYLE" on Violin has been further developed by Shri M.S. Goaplkrishnan, Dr(Smt.) N. Rajam, Shri Lalgudi Jayaraman in South, And in (Gatkarni style) Western & North India, Late Pandit V. G. Jog and Pandit D.K.Datar are the leading performers of "GAYAKI STYLE". Violin is a DIVINE Instrument and its anatomy resembles human anatomy. Like humans each Violin has a distinctly different tone than other. Because of this distinctive character of Violin, it is spread all over world therefore it is **WORLD WIDE INSTRUMENT.**

#### References :

1. The Musical & Musical Instruments of Southern India.
2. Day C.R.. Decean.

# Interpretation and Implementation of 'Music' by Modern Indian English Poets (with reference to Kamala Das)

Smt. Jogalekar Bhakti Chandrakant

Poetry in the ultimate analysis is the art of using words in unexpected combinations. The poet is in a situation in language. The ease with which he forges an instrument adequate to his needs and creates memorable phrases, is one of the surest tests of his greatness. The use of language in Indian poets in English is an interesting and altogether different kind of occupation. Kamala Das occupies an important position amongst the poets who constitute the modern tradition of Indian poetry in English. She is the first poet to challenge the critics who maintain that Indians could not produce creative work particularly poetry in English which served as a sort of inspiration to other poets to write in English.

Kamala Das, who received no formal education, no pompous university degree, is a conscientious artist who is mainly guided by her impulse and instinct for precise and harmonious words. She is fully aware of the value of words and their fine shades of meaning. She can make subtle distinctions in picking up or  
Research Scholar, Dept. Of ENGLISH),

LNMU Darbhanga. render her poetry a beauty and the precision. She was fully aware of the fact that the language one employs is not important; what important is the thought contained by the words. Kamala Das shows in her poetry that her thought has been adequately contained in her words. In her well-known poem. "An Introduction" Kamala Das speaks out her mind with regard to the question:-

"Don't write in English, they said,  
English is not your mother-tongue."  
Similarly, the words are very powerful and expressive in the hands of Kamala Das when she says,

*"It voices my joys, my longings, my  
Hopes, and it is useful to me as cowing  
Is to cows or roaring to the lions; it  
Is human speech, the speech of the mind  
that  
Here and not there, a mind that sees and  
hears and  
Is aware."*

The harvest of the words in the poem of Kamala Das is rich and varied; it gives the true picture of the poet's mood and feelings. The diction of Kamala Das is broadly speaking, lyrical and natural.

Simplicity and lucidity are its hallmarks. The poem, "The Suicide" is a marvelous piece of lyricism and simplicity.

*"O Sea, I am fed up  
I want to simple  
I want to be loved  
And  
If love is not to be had  
I want to be dead....."*

The words expressed above flow and create notes of despair and agony like the strings of a musical instrument creating the notes of emotion of the player or the artist. She has employed a device of repetitiveness which creates a musical effect in her poetry. It suits to her purpose and velocity of emotion. Not only certain words and phrases have been repeated but a whole set of expression, a whole clause is frequently resorted to. For this one may look up "The stone Age"

*"Ask me, everybody, ask me  
What he sees in me, ask me why he is  
called  
A lion, A libertine".....*

and similarly,

*Ask me why life is short is love is  
Shorter still, ask me what is bliss and  
What its price".....*

In this Passage "ask me" has been repeatedly used even in the contents where the intentions of the poetess are juxtaposed. So, the repetitive application of words, phrases and expressions makes kamala Das's poetry truly musical and rhythmical. Kamala Das, who does not practice "rhyme" in her verse, is a living example of much ethereal music" She is an adept in molding her words and expressions in a highly musical form.

For example

*"You dribbled spittle in to my mouth, you  
poured yourself into every nook and  
cranny, you embalmed My poor lust with  
your bitter sweet juices."*

The frequent use of "b" "d" and "t" sounds creates a musical effect to the lines.

In the poem "The Dance of the Eunuchs" One can see

*"It was not, before the eunuchs came  
To dance, wide skirts going round and  
round, cymbals  
Richly clashing and anklets jingling,  
jingling  
Jingling....."*

Here the frequent use of "d" and "g" is noteworthy. Similarly the word "jingling" is repeated which creates rhythmical and musical quality. The words are poured with music so powerfully that the dance of the eunuchs can be experienced with ear and eye by the readers.

Kamala Das in her best poems moves us deeply through her "Passionate urge and drive to the rhythm. The poem "Looking Glass" is to be specially marked for its honesty and openness in the expressions of a woman's inner thoughts of love and sex.

Here she says:

*"Getting a man to love you is easy  
Only be honest about your wants as  
Woman. Stand nude before the glass with  
him  
So that he sees himself the stronger one  
And believes it so, and you so much more  
So after younger, lovelier.....Admit your  
Admiration."*

The words are very "apt" in "content" and "rich" in "musical effect". Words

convey the meaning with musical and rhythmical pattern.

"The wild Bougainvillea" is another poem remarkable for its word beauty and charm of continuously alternating long and short lines:

*"I walked, I saw and  
I heard, the city tamed  
Itself for me, and then my hunger for a  
Particular touch wanted  
And one day I sent him some roses and  
slept  
Through the night, a silent  
Dreamless sleep and wake up in the  
morning free."*

The play on words, repetition and some arresting images are to be witnessed in it. These images make her verse really delightful, graphic and pictorial. It is pertinent to focus on Kamala Das's diction, which tends to be lyrical & musical. Simplicity is the hallmark of her language and she does not indulge in unnecessary verbal jugglery or pedantry.

Prof. Iyengar maintains that Mrs. Das gives the impression of writing in haste but she reveals "a mastery of phrase and a control over rhythm- the words often pointed and envenomed too, and the rhythm so nervously, almost feverishly alive.

By choosing English as the Medium of poetry she has made this distinction, insignificant in her own case. Kamala Das establishes an instant relationship with her readers for the simple reason that she is unassuming and unpretentious in her use of words. That is why; she has come very close to writing the poetry of concrete universals.

#### References :

1. Iyengar K.R.S. Indian writing in English Bombay Asia publishing House .1962: 2<sup>nd</sup> ed 1973.
2. Kohli suresh. " The poetic craft of Kamala Das: Thought (March 16.1968) 17-18
3. Paranjape Makarand Indian poetry in English Macmillan India Limited.1993
4. Raheman Anisur Expressive form in the poetry of Kamala Das New Delhi: Abinav publications, 1981.

# The Concept of Abhinaya (acting) In Nātyasastra

Amandeep Singh

*Nātyaśāstra* is the most detail and elaborate of all treatises on dramatic criticism and (*Abhinaya*) acting ever written in any language and is regarded as the oldest surviving text on stagecraft in the world. *Nātyaśāstra* is written by the great dramatist of ancient India, Bharata Muni. *Nātyaśāstra* is reckoned as the poetics of Indian drama. Bharata muni in his *Nātyaśāstra* demonstrates every aspect of Indian drama whilst covering areas like covers music, stage-design, make up, dance and virtually every aspect of stagecraft. With its kaleidoscopic approach, with its wider scope *Nātyaśāstra* has offered a remarkable dimension to growth and development of Indian classical music, dance, drama and art. Hence it is certainly not an overstatement to say that *Nātyaśāstra* indeed laid the cornerstone of the five arts in India.

The Indian dramatic art is called *nātya* in *Nātyaśāstra*. *Śāstra* is the term accepted in Indian tradition for the holy injunction dedicated to a particular field of knowledge. In its first chapter, Bharata gives account of its creation. It is in a mythical form. The *nātya* was created by Brahma, the god of creation, to meet the demand of a play, a source of pleasure to minds weary of strife, wants and miseries

of daily existence. An art form like a drama does it very capably because it has a visual and aural appeal. Any piece of advice communicated through a visual-aural form has more impact on human mind than any other form. A drama, besides offering entertainment, can also influence and uplift the minds of spectators.<sup>1</sup>

*Nātyaśāstra* opens with origin of theatre, beginning with inquiries made by Bharata's pupils, which he answers by narrating the myth of its source in Brahma. He also explains the very nature, objective and expanse of *nātya* as a *veda* through this unique myth. It can draw certain obvious characteristics of Sanskrit theatre. The four *Vedas* were created by Brahma, but the lower cast and ladies were not allowed to study them. So, the myth says, Brahma created the fifth Veda called *Natyaveda*, i.e. the art of drama, which can be studied and practiced by everybody. While creating this *Natyaveda*, Brahma adopted its constituents from four Vedas. *Natyashastra* consists of four elements namely *pathya* or text, including the art of recitation and rendition in performance and words from *Rgveda*, music from *Samaveda*, *Abhinaya* or acting, the technique or expressing the poetic meaning of the text and

communicating it to the spectator, movements and make-up from *Yajurveda*, and *rasa* or aesthetic experience from *Atharvaveda*.<sup>2</sup>

Indian drama is different from the western drama in many respects. The word '*nāṭya*' means acting and dance.<sup>3</sup> From ancient times music and dance have been the main features of drama. But in the west, music and dance has been added to the dramatic art in modern time. In ancient times these features were not included in the dramatic performances. Indian artist, who is the heart and soul of Indian theatre, is perfect in every field of art. He has thorough knowledge of drama, dance, bodily gestures, mode of conversation and gestures of face as well as he is psychologically developed. There are rituals before presentation of drama and they are described in detail. The principle deities of drama, Brahma, Vishnu, and Shiva, are worshipped. Shiva is in the form of *Nataraja*. Even today, *Nataraja* is offered a *pūja* before any stage performance. Then the well-being of the spectators is wished for.

*Bhāva* play an important role in *Abhinaya*. In the context of *nāṭya*, these are understood to be *Bhāva* because they convey all the *Bhāva* (*vibhāva* and *anubhāva*) through varied *Abhinaya* (acting). *Bhāvas* are lead to the meaning of the poem, a meaning which includes words, physical gestures and emotions and facial.

The *Nāṭyaśāstra* by Bharata followed by Nandikesvara's *abhinayadarpana* provide the most detailed and systematized guidelines on *Abhinaya*. They emphasize that actors must convey the *Bhāva*, emotive states, to others by outward expressions called *anubhāva*.

*Vibhāva* i.e. the determinants and stimulants of *Bhāvas* can also get across through *citrābhinaya* i.e. 'pictured *Abhinaya*'. In this actors can 'picture' to the audience the persons and objects with reference to which the emotive states are evoked. Bharata Muni had tried his best to solve this psychological phenomenon in one sentence, say in one sutra only and expounded it in much detail in his famous treatise *Nāṭyaśāstra* which deals mainly with dramaturgy.

"*vibhāvānubhāva – vyabhicāri – sa Gyogād rasa – niṣapatti %*"

(*Nāṭyaśāstra* 6<sup>th</sup> chapter)

In the field of Indian aesthetics it is the *rasa* (aesthetic experience) that manifests itself when the *sthāyibhāva*, i.e., the emotion of a reader or a spectator is correlated with the following three aspects expressed in a piece of creative literature : (i) *vibhāva* (excitant), (ii) *anubhāva* (ensuant response) and (iii) *vyabhicāribhāva* (transitory feelings) – and all these three should be accumulated as one. The word emotion cannot in its totality represent '*Bhāva*' as emotion stands more for an outcome of feeling or in other words feeling produces emotion. Whereas *Bhāva* rooted etymologically in 'to be' or 'to exist'. *Bhāvas* in their permanent, lay calmly in the state of our heart which when given appropriate environment manifest extrovertly. Keeping this similarity in mind the term emotion is equalized with *Bhāvas* in the present context. In order to highlight the basic characteristics of the above mentioned *Bhāvas* or emotions it can be said that;

(a) *Sthāyibhāva* or (Permanent emotions) always inhere, in dormant

stage, in all the human mind/heart as basic instincts, and are fed by a number of minor feelings called transitory, accessory or auxiliary feelings. Permanent emotions in us are inborn. These are not acquired by any experience or training and also are not born out of any emotion or feeling.

These are eight in number: *rati* (love), *hāsyā* (joy), *śoka* (grief), *krodha* (anger), *utsāha* (enthusiasm), *bhaya* (fear), *jugupsā* (disgust) and *vismaya* (surprise). According to some rhetoricians there are three more *Bhāvas* also: (i) *nirveda*, i.e., detachment from the worldly affairs, (ii) *vātsalya*, i.e., affection for children, and (iii) *sneha or sāhacārya*, i.e., desire for the company of a particular friend of any sex.<sup>4</sup>

(b) Contrary to the *Sthāyibhāva* are the *vyabhicāri bhāva* (transitory feelings). These have been enumerated thirty-three in number, yet more can also be accepted. These – unlike the *Sthāyibhāva* – are neither inborn, nor permanent, but born out of the *Sthāyibhāva* themselves. For example, the bashfulness is born out of 'love', the depression out of 'sorrow', etc. moreover, the transitory feelings are attached with more than one emotion. For example, the feelings like unsteadiness, longing, madness, remorse, dejection, sickness, agony, despair, depression, nearing death, etc., are attached with the emotion 'sorrow' as well as with 'love' and also with 'fear'.

(c) The cause of any basic *Sthāyibhāva* in worldly affair – when presented in any piece of creative literature, is called *vibhāva* (an excitant). It is of two kinds: *ālambana - vibhāva*. (substantial excitant) and *uddīpana - vibhāva* (enhancer excitant).

(d) The effect of physical expression of any *anubhāva* is called *anubhāva* (ensuant response). For example, in the case of fear, the physical movements of a frightened person from a lion in the jungle, like trembling, trying to look towards every direction to seek help, perspiration, horripilation, fainting, etc., is called *anubhāva* (ensuant response). Similarly, in the case of sorrow, say, at the death of a son in a drama like 'Satya-Harisacandra' – wailing, sobs, sighs, falling on the ground, raving, etc., of his parents are termed as ensuant response. It is accompanied by words, gestures and facial expressions. An *anubhāva* is called as such because a meaning is conveyed with the help of words, gestures and facial expressions

Well, when these three – excitant, ensuant response and transitory feelings – are correlated with any *sthāyibhāva* of a *sah[daya]* (an aesthete), it is manifested, transformed, or say converted into poetic or aesthetic pleasure. The expression of an emotion by speech may be addressed to some one; but if so, it is not done with the intention of arousing a like emotion in him. If there is any effect which we wish to produce in the hearer, it is only the effect, which we call, making him understand how we feel. But, as we have already seen, this is just the effect which expressing our emotions has on ourselves. It makes us, as well as the people to whom we talk, understand how we feel. A person expressing emotion, is treating himself and his audience in the same kind of way he is making his emotions clear to his audience, and that is what he is doing to himself.<sup>5</sup>

The concept of *Abhinaya* (acting) is also given in *Nāṭyaśāstra*. *Abhinaya* is an Indian art form. *Abhinaya* (acting) is

the performance through which the desired theme is presented on the stage directly before the audience. The actor is one who by his performance binds the spectator and the *anukārya* into a bond of relationship and thus helps in providing aesthetic pleasure to the spectator.<sup>6</sup> *Abhinaya* is common to all classical dances and drama. It is the expression in *nṛtya* and drama. It is the art of telling a story through *hastas* or gestures, movement and facial expressions

The meaning of *Abhinaya* according to Bharata it is derived from the root 'ni' – which means to 'take or carry', with the preposition 'abhi' – 'towards'.<sup>7</sup> *Abhinaya* is the medium of 'carrying' the dramatic text to the spectator in a meaningful way. The word *Abhinaya* is usually translated as 'acting'; but that, according to Bharata, is not correct. *Abhinaya*, from 'ni', 'to carry' with prefix 'abhi', towards means that which carries (the meaning of the play) towards the audience. So words (*vācika*) with physical gestures (*āngika*) to suit the emotion '*sattva*', as well as make up and costumes constitute *Abhinaya*. *Abhinaya* has been given an important status to art. Many rules are set related for this art. Actors practice for a long period of time to be perfect in this art. The nature of this art is stylization, so each and every impression is tuned to be expressed through the gestures of hands, feet and other bodily parts. Instead of realistic stage setting to show the action of climbing on a hill, the action of crossing a river, a battle or fight etc; the action is presented through the mute action of the actor. Stylization is the main factor of acting. Its main objective to present an artistic effect through unrealistic extended gestures and motions.

*Abhinaya* is an Indian art form. It covers all histrionic activity. It includes

the physical, verbal, mental, and decorative as well. *Abhinaya* has been categorized in the *Nāṭyaśāstra* into four types i.e. *āngika* (physical), *vācika* (verbal), *āhārya* (external or added, of costumes, props, make-up, as well as decoration) and *sattvika* (internal, emotional and mental). The play stands on these kind of *Abhinaya*.

#### ĀNGIKABHINAYA (PHYSICAL) :

*Āngika* or physical where every part of the body is used to convey a meaning with *hasta mudras* (hand gestures), *mandis* (postures) and even the walk of the dancer. In traditional Indian theatre the visual aspect of performance created by actors' bodies occupies a prominent place. Hence the *Nāṭyaśāstra* offers a codification of body language based on movements of different limbs and sign language based on their usage and applicability. The communication through body movements, called *āngika Abhinaya*, its literally means pertaining to physical parts. According to *Nāṭyaśāstra* *āngika* or bodily action is of three kinds : (1) *mukhaja* or facial, (2) *śārira* or bodily, (3) *cecāṅkṣita* of the whole organism. All of these are related respectively to an anatomical classification of *upānga* i.e. minor physical parts, *anga* or major physical parts, and *śākha* literally means 'branch'. Here again there are sub-varieties.

*Angas* : the six major *angas* comprise the head, arms, chest, sides, waist, and legs.

*Upānga* : eyes, eyebrows, nose, lower lip, cheeks, and chin.

*Śākha* : arms and legs.

Although they are parts of the head and that is why called as the vehicles for *mukhaja*. The *Nāṭyaśāstra* describes these facial expressions as the very basis of

*Bhāva*. The codifies movements of the head together with the *upānga*, in an amazingly elaborate way.

In the *sarira* division, movements of the remaining five *angas* find equally detailed treatment. However, the motions of the entire body in *nyayas* i.e. fighting sequences related to martial arts and exercises come under *cecākṣita*. The *śākhās* i.e. striking, graceful movements of arms and legs together with the *sthanakas* i.e. basic standing positions may be observed as varying form one theatre or dance form to another, there by lying at the root of specificity of particular forms. The *śākha*, *ankura* literally meaning of which is 'sprout' signifies imaginative and improvisational representation. The suggestive ways of evoking objects and emotive states, and *nṣṭta* i.e. 'pure dance', or graceful poses drawn from it constitute important aspects of *āngikabhinaya*. While most of the postures have been derived from nature and ordinary life on the basis of correspondences, some also have roots in ritual.

In the 9<sup>th</sup> and 10<sup>th</sup> chapter of *Nāṭyaśāstra*, Bharata told about *hastabhinaya*. Hand gestures is also known as *Abhinaya hastas*, are also extremely useful in developing a complete semiology. The literal meaning of *hastas* is hands. The semiology includes their common name, *mudra* or 'sign'. Bharata first mentions twenty four varieties where, mostly by fingers and palm, gestures are given these apparently are for drama, because he says that the gestures for dance are different and they are sixty four in number. In each case the purpose of the gesture i.e. what it is supposed to convey is also mentioned. Therefore, the *Nāṭyaśāstra* offers a detailed account of

single as well as combined hand gestures and their implementation in *āngikabhinaya*, to signify specific objects and the meaning of a work. In contrast, *nṣṭta hastas* are hand postures used primarily in pure dance context. Movements of the chest, sides, belly, waist, thighs, shanks, and feet have also been codified in the same measure. *Cari* i.e. motions below the hips are given an important place in order to represent walking, or ground motion i.e. *bhumicari*, as well as 'aerial' motion i.e. *akasacan*. *Cari* refers to the movement of one foot, accompanied by the shank, thigh and waist. When both feet move together, it is termed as *karana*. A combination of three *karanas* is called *khanda*, and three *khankas* combined make up a *mandala*. Single *cari*s related to *shers* form *vyāyāma* or the system of exercise used in martial arts. The *Natyashastra* defines a number of *gatis* in order to impart the varied walks of superior, middle-class, and inferior male as well as female characters, such as the hero, heroine, clown, the old, the young, and the insane. It also describes a number of *asanas* or sitting postures. The general notion of reformatory units of movement emerges from body control in sitting, standing, and reclining positions. *Asanas*, *sthanakas*, and *mandalas* form the basic static stylized positions from which a variety of possibilities arise.<sup>9</sup>

**VĀCHIKABHINAYA (VERBAL) :**  
The communication by speech is called *Vāchikabhinaya*. Words are based on vowels and consonants. An actor should be very particular about words, because words are the body of dramatic art. Gesture, costumes and make-up, along with the expression of emotions, are secondary as they only clarify the

meaning of words. The *śāstras* are made up of word; they depend on words; so there is nothing more important than the word. Word is at the source of everything.

In this, the vowels, consonants and their places of origin in the mouth, intonation, modes of address etc. are discussed. While giving the literary aspect of drama Bharata describes ten types of dramas which are known as *Daśarūpaka*. One of them is *Veethi*. *Veethi* is a kind of one act play and we can say road shows also. In *Natyashastra*, there are thirteen distinguishing features of *Veethi*<sup>10</sup>. At present, a lot of them are seen during the election time. *Vāchikabhinaya* is the vocal/verbal aspect as used today by members of the orchestra or the supporting non-dancing cast.

The principles of recitation and rendering of dialogue include usage of specific musical notes for particular moods of sentiments. It also includes identification of the three voice registers in the chest, throat, and head and the four accents or pitches of *udātta* (high), *anudātta* (low), *svarita* (circumflex), and *kaApita* (quivering). These three can be mentioned as high or low, excited or grave, and fast or slow. These three takes into account the voice in terms of degree, raising or lowering it on the one hand i.e. spatial attribute and in terms of speed on the other i.e. the temporal aspect. Six *angas* or 'physical parts' further investigate the voice in its aspects of inner body space and temporal sequentially<sup>11</sup>.

1. *Viccheda* (break) : Break is the result of pause.
2. *Arpana* (offering) : when, with graceful modulation of voice, the audience is offered the entire articulation.
3. *Visarga* (letting off.): When a sentence is cut off by just breathing

out, letting out breath. It is the stop at the completion of sentence.

4. *Anubandha* (continuity): Absence of pause or not taking breath during articulation.
5. *Dīpana* (alto) : Gradually raising the notes from all the three centres.
6. *Praśamana* (opposite): Gradually lowering the notes without making them discordant.

These six *angas* are to be used with the various *rasas* as follows:

- In *Hāsya* and *S[ngāra*, *Arpana*, *Viccheda*, *Dīpana* and *Praśamana* are to be used.
- In pathos, heroic and wonder, *Viccheda*, *Praśamana*, *Arpana*, *Dīpana* and *Anubandha* are to be predominate.
- In disgust and fear, *Viccheda*, and *Arpana* would be proper.
- In terror, *Viccheda*, *Praśamana*, *Dīpana* and *Anubandha* are to be used.

In all the cases, high, low and medium notes from the three centers are to be used. One should not go from the high to the low or from the low to the high. A pause must come when the sense is complete and not when the metrical line ends. In a play, proper pauses must be taken care of. Because a pause makes the meaning clear.

The eyes must be fixed where the hands are active. And thus a *vācika* (verbal) *abhinaya* (acting) makes the meaning clear. In the heroic and terror sentiments, the hands are normally busy with weapons; in disgust, because of contempt, the hands are bent, in *Hāsya* they are pointing; in pathos, hanging down; in wonder and fear, because of the surprise element, they are motionless.

Thus meaning clearly conveyed by the hands, by the *alankāras* (voice inflection) and by pause. Because pauses require voice inflection. One pause when the meaning is complete or when breath makes it inevitable. When there is a compounded word, or when one speaks fast, or if the meaning gets confused, one should pause at the end of a line or to take breath. In all other cases, pause depends on the meaning. The chapter concludes with references to threefold rhythm and tempo, as well as the significance of pauses and stops.

**ĀHARYĀBHINAYA** (costumes, props, make-up, as well as decoration) : *Āngika*, *vācika*, and *Sāttvika*, these three aspects of *abhinaya* are inherent in the performer's body, mind, and soul respectively, they may be viewed as intrinsic to his being, where as makeup dress, and properties are added on. Thus these are called *āharya* i.e. 'added' or external *abhinaya*. *Āharyābhinaya* or external expression, mood and background as conveyed by costume, make-up, accessories and sets. This *abhinaya* connected with *nepathya* and in the interest of the success of the play this must be studied. The various positions of people are first indicated by their *nepathya* and their physical gestures. This *nepathya* is of four kinds, *Pusta* (model), *Alankara* (ornaments and costumes), *Angaracanā* and *Sanjiva*<sup>12</sup>. *Āharyābhinaya* differs from the other varieties of *abhinaya* in one particular. *Abhinaya* through words, emotions and bodily movements is wholly under the control of actor. However, make-up, costumes and other accessories are external, hence *āharya*. From this point of view the present day lighting, stage signing and setting may be called *āharya*.

**SĀTTVIKĀBHINAYA** (internal, emotional and mental) : Representation of the characters is called *Sāttvikābhinaya*. It is the highest quality of *abhinaya* expressing the inner feelings of the character by subtle movements of lips, nasal ali, trembling of body, turning the face red, rolling down the tears etc. *Sāttvikābhinaya* or psychological expression as shown by the eyes in particular and as a whole by the entire being of the performer, who feels the mood, the character and the emotion as emanating from the self, not as an act or practical presentation. *Sāttvika*, or communication through *Sāttva* i.e. 'essence', of the mind, is considered to be the soul of *abhinaya*, as in the *Nāṭyaśāstra*. Delineation of the *sthayi* i.e. stable or permanent *bhāva* with corresponding *vibhāva*, *anubhāvas*, and enactment of *Sāttvika bhāva* i.e. pure involuntary impulses. These have corporeal as well as psychic aspects and cannot be performed without purity and concentration of mind.

The main objective of a drama or a play is the entertainment of the audience. A favorable environment is given to the audience. That is why Bharata muni has directed the director and artists to present and keep in mind the character and its psychological conditions. Bharata emphasis on psychoanalysis of the character. In this context Bharata has laid emphasis on the point that an artist should forget himself and try to get into the character he is performing. He should work according to the mental condition of the character. The modern doctrine of action also supports the thought of the artist to involve in the character.

**SĀMANYĀBHINAYA** : The general approach to performance is called

*sāmanyābhinaya*. *sāmanyābhinaya* depends on word and their tone, physical gestures and *sattva* (emotions). When words, the tone and the gestures and suited to the emotion conveyed, it is *sāmanyābhinaya* (where all three are *samana* i.e. equal or suited to one another). when the emotion is impressively expressed, it is of a high kind; when it just equals i.e. is not dissonant with words and gestures, it is middling; and when it fails to register, it is inferior.

Emotion is something non-material, is dependent on the *rasa* and sentiments and the appropriate emotion could be guessed by thrill and tears, etc. The charms of women are the basis of sentiments and these, particularly in the case of young women, are in the form of changes in facial expressions and bodily positions the changes in bodily positions are of three kinds, those natural to them are of ten kinds; and those which they unknowingly make are of seven kinds. Feeling, its natural expression (*Hava*) and its graceful expression (*Hela*) are mutually dependent, and belong to the body. The emotion belongs to the body, expression follows emotion, and grace accompanies expression. *Bhava* is so called because it makes the audience to feel because of words, gestures, etc. intensive emotion is absent between persons of the same sex. Then it is called *hava*. But in the case of love, the feeling in mind is expressed with changes in eyes, neck, etc. and these changes, when graceful are called *hela*.<sup>14</sup>

Through the discussion of the four types of acting, one more aspect of the Indian dramatic art comes before us, which is directly related to the actor. Indian drama is mainly of two types (1) *Nātyakharmi* (2) *Lokadharmi*.

*Nātyadharmi* is conventional and non-realistic. The characters, conditions and story is not presented realistically but a dramatic presentation is done for the entertainment of the audience. The main objective of this presentation was to refresh the tired minds and bodies of kings, ministers and courtiers and to entertain the during festivals and fairs.

'*Lokadharmi*' plays are directly related to common people. Its format is also more realistic than '*Nātyadharmi*' plays. In this way our tradition of classical Sanskrit Drama is a mixture of realistic and traditional elements. But more importance has been given to the unrealistic conventional form because through this type of presentation a play or drama can be made more artistic, interesting and beautiful and audience get to see something different from their bitter realistic life and get beautiful entertainment.

In conclusion, reference must be made to the two practices of representation in traditional Indian performance. These are *Nātyadharmi* (conventional and stylized) and *Lokadharmi* (less conventional, based on ordinary life). However, the latter should not be confused with naturalistic or realistic modes of modern theatre. Even *Lokadharmi* maintains a certain degree of stylization. Thus the concept of *abhinaya* is not only much wider than the notion of acting in its modern sense. It is also fundamentally different from naturalistic or realistic acting which aims at producing an illusion of reality. *Abhinaya* is basically a suggestive mode of representation, which may be defined more in term of conveying the *Bhāva* than 'acting'. Its doctrine and continuity is vibrantly present in Indian traditional

forms, whether theatre or dance, classical or folk.

In the end it can be said that the *siddhi* (success) of *Abhinaya* lies in its complete transmission of the objective or the goal of the performance in totality. Therefore, *Abhinaya* should be understood as grounded in its various constituents like intelligence, beauty, knowledge of time rhythm, sentiments and emotions, curiosity, and ability to learn, remember, and understand, to conquer stage-fright and finally plenty of enthusiasm.

## References

1. The *Nāṭyaśāstra*; English translation by Adya Rangacharya; Munshiram Publishers pvt. Ltd., New Delhi.; p-18-20.
2. Ibid:1-2.
3. *Abhinaya Kala*. by Dr. Parkash Syal and Dr. Navnindara Behal; Publication bureau, Punjabi university. Patiala: p-81-83.
4. Glimpses of Indian poetics . Satya Dev Choudhary : Sahitya Akademi. New Delhi (2002): p-68.
5. The problems of aesthetic. Eliseo Vivas Rinchar and Winston. Chicago san Francisco: p-346.
6. Glimpses of Indian poetics . Satya Dev Choudhary : Sahitya Akademi. New Delhi (2002): p-225
7. The *Nāṭyaśāstra*; English translation by Adya Rangacharya; Munshiram Publishers pvt. Ltd., New Delhi: P-79.
8. Ibid: p-79-80.
9. Ibid: p 83-89.
10. Ibid: p 154-155.
11. Ibid: p 138-146.
12. Ibid: p-174-175.
13. The *Nāṭyaśāstra*; English translation by Adya Rangacharya; Munshiram Publishers pvt. Ltd., New Delhi; p-185.

# The Tribal music of Newar

Kumar N 'Sargam'

The entire feeling of human psychology is arts, and the intelligence and conscious mind of human beings create this art, that's why Music is the finest fine arts among all 64 arts. From the very beginning of the human civilization, music however associated with life and a part of culture, tradition, and rituals.

Now different forms of music are popular in our community, regional, classical, popular and many others. The community is the organization of different people representing various casts, tribe and ethnic groups.

Newars are the tribe especially lives in Kathmandu valley and around. Although they are found scattered in almost every part of nation. It is necessary and important to understand that he matter regarding the tribe identity of Newar people in disputative among the various schools of thought even today. Some genealogic explains the Newars people to be actually descend from Brahma Putra Kstriya meaning warrior sons of Brahma. Another sources state that they are the descent of people who migrated into Kathmandu along with the first Karnataki king Nanya Deva from the land in south India called Nair. After a long run from Nanya Deva to Kirati, to Lichchhavi, to Malla to Shah and even today this Tribe

is known as Newar because it is a socio-linguistic group that speaks the common tongue Newari categorized under the Tibeto-Burman language. The Newari spoken in Bhaktapur, Kathmandu, Patan and Kirtipur of Kathmandu valley is quite similar but the Newari spoken in Dolokha is different.

The Newars are very much rich in traditional, classical regional songs, music and dance. Various music and dance events take place in different parts of Newari societies on the occasion of different festivals and rituals. In fact Newars are so duly intermixed with music and dances that not a single festival, feast, or ceremony from womb to tomb without music or dance or songs. Various songs musical instruments and dances are connected with various religious, social and cultural life of Newar either of Kathmandu or Dolakha or rest of the country. Different musical instruments are practice in the festival, feast, ceremonies and also in the funeral procession.

It is believed that, there are about 200 types of original musical instruments in Nepal and more than 108 have been till the date. A great number of Newari musical instrument are included in it. These instruments can be classified into four different categories.

- (i) Membranophone
- (ii) Idiophones
- (iii) Chordophones
- (iv) Aero phones

The most used musical instruments in Newari societies are Membranophone, which are generally accompanied with Idiophones and Aero phones. The most common instrument in Newari community is Dhimey (instrument a bit similar to Dholak), Sahanai, Khee, Kartal and Chilimile. These are the musical instrument generally played in almost every festival of Newars.

Artist playing Sahanai

Lakhe dance of dolkhali Newars

Besides playing instrument, the forms of classical and folk dances are also performed in Newari community either of Hindus or Buddhist. One of the famous classical dances in this community is Charya and Manjushree. Technically known as Charya Nritya, which means "dance as a spiritual discipline", this sacred dance form is a meditation discipline, vehicle of bodily and spiritual transformation, and opportunity for an audience to experience a vision of divine beauty. There are many other mask dances performed in Newari are Lakhe dance, Mahakali Dance, Bhairab Dance, Sikali Dance, Various Gan Pyakhan etc. And other folk dances are also in practice like Jyapu dance, Ghintanmuni dance etc. these all dances are performed in jatras like

indra jatra, bisket jatra, Gai jatra, Bhota jatra, Kumari-bhairav jatra etc. Lakhe dance is the most common dance in newari festivals (jartas) generally performed in the beginning of the all the jatras. In newari lakhe is called dwaku Dakus/ joor dakus or majipa dakus according to the festival.

Performing chariya Mask dance  
Lakhe Bhairav

Newars are also rich in traditional and classical songs, Dafa bhajan are generally sung mostly in newars. In the month of June or July, at the time of planting paddy they usually sing 'Ashare geet' in their native tongue. In holi they celebrate the festival by singing 'basanta geet', 'Fagu geet'. In Navaratra malshree is most common song on goddess Durga. Ghatu is also the folk songs of newari community. Charya gaan is a classical singing patterns followed by mostly the Buddhist Newar of the Nepal. There are other many songs popular in Newari community according to their festivals, rituals, marriage ceremony etc.

The ethnic tribe Newars is very rich in music, culture and rituals. In all the festivals music plays a vital role even praying god or entertaining public. By means of songs or dance or instrument the people of Newari community of Nepal are preserving the tradition of their ancestor.

# Classical Dance forms of Thailand

Naphatsanan Junnaket

Thai classical Dance has generally been treated as a part of the culture tradition belief and literature. The earliest literary references to Thai performing arts appeared in the stone inscription of Phor Khun Ramkhamhang. It is very important role in the evolution, embellishing and supportive of dramatic art in Thailand.

Thai classical dance have 4 forms is:

1. Khon
2. La-Khon (Drama)
3. Labam, Lam (Dances)
4. Folk Dance

KHON is a Thai performing art that is a heir of Nang Yai. It was an attempt to present a more lively performance by using people instead of leather figures. It was evolved by having Khon figures alternate between singing and reciting. In Nang Yai the figures only recite. Khon play animates Thai mythological stories through a series of dance, with characters wearing intricate masks displaying different emotions or characteristics. Khon is performed by dancers wearing brilliantly crafted masks. During the Ayutthaya period, khon performances were held in palace halls or courtyards lighted by torches.

Normally, Khon performances are taken from different episodes in the

Ramakien, the Thai version of the India epic, the Ramayana. The formal movements of Khon performances make the acting and dancing inseparable. Masked dances who never speak perform the Khon dance, and are told in verse by singers behind the scenes. Khon characters include demons, monkeys, humans and celestial beings. Today, only the dancers portraying the demon and monkey wear marks.

Dancing in Khon is similar to dancing in Lakhon Nai. More pattern of dancing with different actors and melody are adapted to avoid similarity among them.

The story is preceded by both rhythmic expressions called "Pak Khon" and rhythmic dialoguers. The dialoguers and song for Khon actors are all recited and sung by, so called, a cheacha man( a person who speak out the dialogues for the performances).

LA-KHON a graceful and beautiful dance-drama is less formal than khon and the actors do not wear masks. La-Khon plots are drawn mainly from the Ramakian, the Jatakas, and Folk stories. La-Khon dance movements are graceful, sensual, and fluid, the upper torso and hands being particularly expensive with conventionalized movements portraying specific emotions.

La-Khon has many forms is La-Khon Chatri is and old play that is generally performed among common people, so the performance is not formal. In the past, there were only three male actors but later women also joined is an open space without curtains, and the most popular story is Manora, about a celestial beauty who is capture by a prince. La-Khon Chatri is usually performed to fulfill a person's vow.

La-khon nok is a play that is performed outside the palace. Formerly, it was called La-Khon Nora and all actors were male. The costumes are like those of ordinary people, and the story emphasizes fun. Because all the actors are men and because there are no court regulations, the performance is very spontaneous.

La-Khon Nai is more formal. It originated with the idea that the court ladies should perform a dance. La-Khon Nai is a combination of the Khon performance and a dance. All actors are female and they wear Khon costumes but do not wear masks. La-Khon Nai is a play within the royal court that aims to be a beautiful and meticulous performance. The characters wear ornate costumes, their movements are graceful, the songs and the music are melodious, and the dialog is artful.

LABAM, LAM This performance hold their bodies upright from the neck to the hips, moving up and down using only their knees, and stretching to the rhythm of the music. The arms and hands in Thai dancing are held in curves at different levels, but do not point like ballet. The beauty of the dancers depends on how well these curves and angles are maintained in relation and proportion to

the whole body. The actors mime the story line and lyrics provided by a singer and chorus off-stage. Traditionally, there are 108 basic movements, which are different for men and women. In order to perform well in the dance-drama, dancers have to learn the language of gestures. Although there are strict patterns of movements to follow,

FOLK DANCE of four regional in Thailand: Folk dance in the regional of Thailand was represented to tradition of Thai's people life.

Central its great popularity is due to the beautiful choreography and the sweetness of the music that accompanies it.

The Northeast Serng another form of "folk dance" , is performed during traditional celebrations. Usually the word serng is added to the name of the domestic object used on stage by the dancer. This dance is often accompanied by sound of the pong lang, a kind of upright xylophone, made of strips of wood arranged according to the musical scale.

North, Fawn is another form of "folk dance" accompanied by folk music of the region. The first Fawn originated from the northern region of Thailand, it was designed and taught. Since then, a variety of "Fawn" came into practice, according to the music and style of each province, such as the Fawn-Sao-Mai. It is performed in groups and has very slow, graceful, and almost meditative movements. The dance imitates different processes of silk-weaving.

South : The Nora is a traditional dance of southern Thailand (southern language in Thai called the "Chatri), whose origins in various legends of which there are different versions. The

choreography of the Nora dance varies from region, but is generally composed of 12 positions 17 movements.

Other traditional dance includes two forms that originated in the south of Thailand. Nang Yai the oldest performing art in Thailand is Nang Yai, which has been high-class entertainment since the Ayutthaya period. Nang Yai is performed in various celebrations or the Phra Men Fair, and the story that is performed is usually an episode of the Ramakian (Ramayana) that has a fighting scene to make the script amusing and exciting. Nang Talung is shadow shows done with

puppets behind a backlit white screen while Li-Ke, is a pantomime with a narrative prelude.

## Reference

**Thai dance:** September 1 2011 ,[http://en.wikipedia.org/wiki/Dance\\_in\\_Thailand](http://en.wikipedia.org/wiki/Dance_in_Thailand)

**Thai classical dance:** June 16 2010 [http://www.chiangmai-chiangrai.com/thai\\_classical\\_dance.html](http://www.chiangmai-chiangrai.com/thai_classical_dance.html)

**Dutsadee Pariphat Na Ayutthaya:** The basic of dance and music. 2000: Thailand

**Renoo Kosinanon:** Thai classical dance. 1985 : Thailand

# Transcription and Analysis of Vocals

Parul Dixit

## **Transcription (Literal Meaning)**

Transcription is a process used in Genetics Branch for creating a complementary RNA (Ribonucleic acid) copy of a sequence of DNA (Deoxyribonucleic acid). It is the first step leading to Gene Expression.

**Transcription** is the process of creating a complementary RNA copy of a sequence of DNA.<sup>[1]</sup> Both RNA and DNA are nucleic acids, which use base pairs of nucleotides as a complementary language that can be converted back and forth from DNA to RNA by the action of the correct enzymes. During transcription, a DNA sequence is read by RNA polymerase, which produces a complementary, anti parallel RNA strand. As opposed to DNA replication, transcription results in an RNA complement that includes uracil (U) in all instances where thymine (T) would have occurred in a DNA complement.

## **LEXICAL MEANING**

- Transcription (service), a business which converts speech into a written or electronic text document.
- Transcription (software), software which helps (manually or

automatically) converts speech into text transcript.

- Transcription (linguistics), the representation of speech in written form.
- Transcription (music), notating an un-notated piece, or copying / rewriting a piece for clarity or as an arrangement for another instrument.
- Medical transcription, documentation of patient medical records.

Transcription of Music is defined to be the act of listening to a piece of music and writing down musical notation for the notes that constitute the piece.

This means transforming an acoustic signal into a symbolic representation, which comprises notes, their pitches, timings, and a classification of the instruments used. It should be noted that musical practice does not write down the loudnesses of separate notes, but determines them by overall performance instructions.

## **Types of Transcription**

- **Monophonic Transcription** : The term monophonic implies that only a single note is played by a single

instrument or a voice is involved at once.

- **Polyphonic Transcription** : The term polyphonic by contrast refers to situations where multiple notes may sound simultaneously, possibly played by many instruments.

### Modes of Transcription:

- **Manual Transcription**: It is well known that Indian music is based on an oral tradition. However, it is often erroneously presumed that this oral tradition precluded any musical notation. This is not the case; musical notation in India extends back to the Vedas. Musical notation, known as swar lipi has existed in India from ancient Vedic age up to the modern internet age. Hand written Transcription can also be described as Manual Transcription.

### • Automatic/Graphic Transcription

This is a process of converting the vocal music into sheet music digitally by the means of melody tracker, spectrogram or software.

The automatic transcription of music is related to several branches of science.

- Psychoacoustics
- Computational auditory scene analysis
- Analysis of music instrument and human voices
- Digital signal processing.

### Techniques of Automatic Transcription

- **Spectrogram** : Spectrogram analyzes the wav files in the form of Graphic representation in which Frequency axis (vertical axis) is set to Logarithmic, with its range from

100 Hz to 20000 Hz and time axis (horizontal axis) of the spectrogram is adjusted to match the duration of the recordings.

**Software for Automatic Transcription** : Solo Explorer is automatic music transcription (recognition) and music notation software for Windows. It achieves high accuracy in extracting sequences of notes out of the audio records of solo performances.

Solo Explorer is designed as a complete music recognition environment. It offers the functionality you need to take a music recognition project from concept to completion in one package. We can open audio files or directly record your own solo performances. Once the audio is ready, we can launch Solo Explorer's wav to midi conversion engine to convert your audio to midi. Solo Explorer returns you a music score in a standard notation that can be played, edited, and saved.

### Solo Explorer converts wav files to MIDI.

- a. It captures pitch, loudness, and performance effects (vibrato, portamento, glissando) of your solo recordings as faithfully as possible (music analysis, music composition).
  - b. It extracts music score out of your solo performances with the highest accuracy available with today's technology (music composition, ethnomusicology research, music transcription and typesetting, interface for content-based music retrieval).
2. Solo Explorer can show if your voice or instrument is in tune (music training, instrument tuning).

3. Solo Explorer is a robust and accurate pitch extraction tool (music and speech analysis, speech synthesis, intonation research).
4. Solo Explorer lets you play and experiment with music.
5. Solo Explorer cannot handle polyphonic performances (except for unison performances), i.e. audio that is a mixture of sounds coming from multiple sound sources.

#### Voice friendly:

Solo Explorer offers you unmatched accuracy in recognizing voice singing arbitrary lyrics. Though singing is the most natural way to enter the sound into a computer, the majority of existing wave to midi converters still have major problems with singing voice.

#### Conclusions

- Computer analysis and machine learning provides interesting new method of analyzing music. It allows many intuitive and qualitative observations to be made objective, precise and quantitative.
- Research with computational techniques lead to direct applications in music technology.
- Work requires collaboration between musicologists, computer scientists and electrical engineers.
- Intelligent music analysis is almost untried for Indian Music.
- Music researchers must help by building corpuses and un-notated datasets for future machine analysis.

112

7992192497

